* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य ८ रुपये
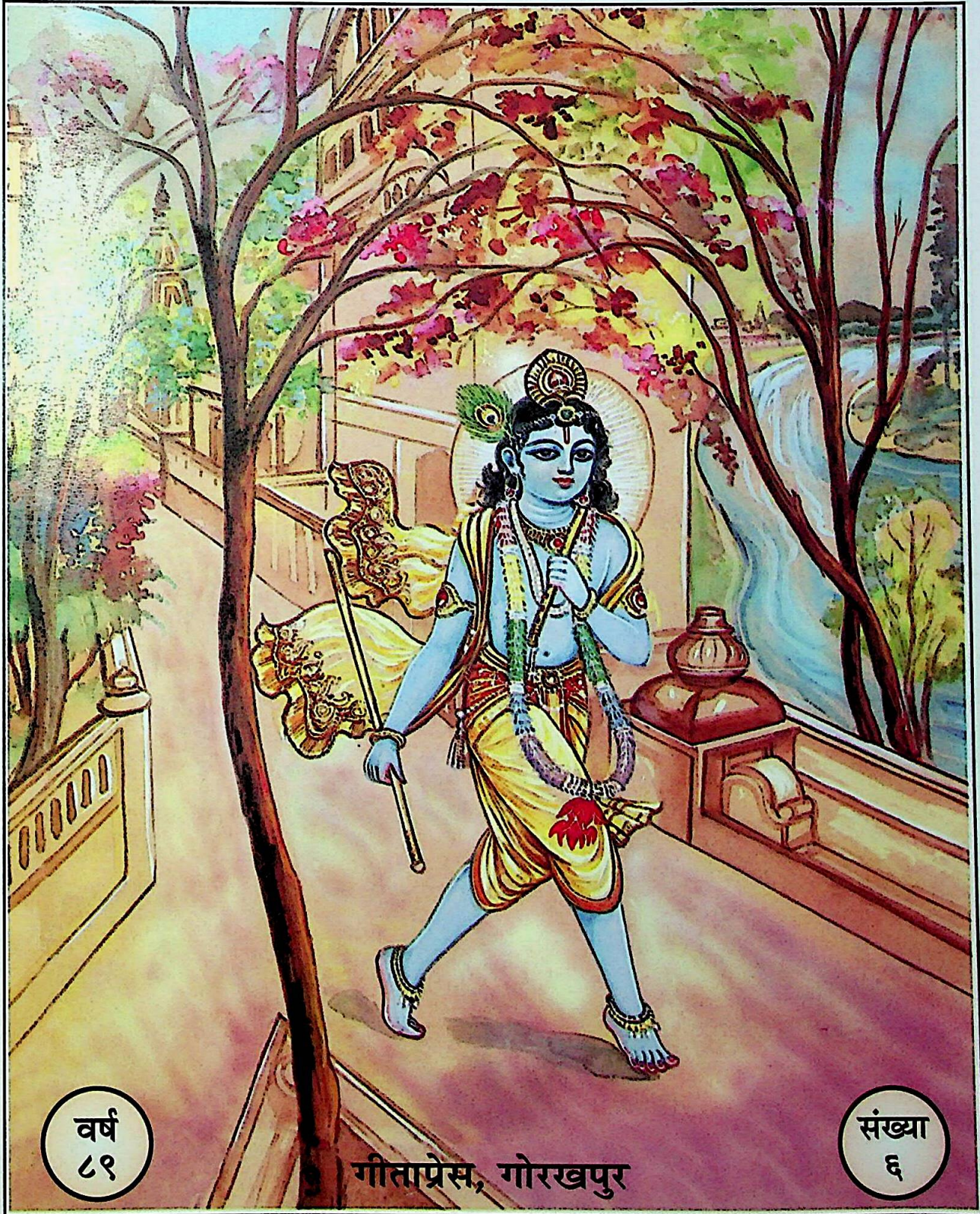
कन्हैयाकी एक मनोरम झाँकी

देवोंद्वारा देवीकी स्तुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

वर्ष ८९

गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, जून २०१५ ई०

संख्या ६

पूर्ण संख्या १०६३

'नारायणि नमोऽस्तु ते'

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य। प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि। अपां स्वरूपस्थितया त्वयैतदाप्यायते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये॥
त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया। सम्मोहितं देवि समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥
सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके। शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

[देवता बोले—] शरणागतकी पीड़ा दूर करनेवाली देवि! हमपर प्रसन्न होओ। सम्पूर्ण जगत्की माता! प्रसन्न होओ। विश्वेश्वरि! विश्वकी रक्षा करो। देवि! तुम्हीं चराचर जगत्की अधीश्वरी हो। तुम इस जगत्का एकमात्र आधार हो; क्योंकि पृथ्वीरूपमें तुम्हारी ही स्थिति है। देवि! तुम्हारा पराक्रम अलंघनीय है। तुम्हीं जलरूपमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्को तृप्त करती हो। तुम अनन्त बलसम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो। इस विश्वकी कारणभूता परा माया हो। देवि! तुमने इस समस्त जगत्को मोहित कर रखा है। तुम्हीं प्रसन्न होनेपर इस पृथ्वीपर मोक्षकी प्राप्ति कराती हो। नारायणि! तुम सब प्रकारका मंगल प्रदान करनेवाली मंगलमयी हो। कल्याणदायिनी शिवा हो। सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली, शरणागतवत्सला, तीन नेत्रोंवाली एवं गौरी हो। तुम्हें नमस्कार है। [श्रीदुर्गासप्तशती]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,१५,०००)

कल्याण, सौर आषाढ़, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, जून २०१५ ई०

विषय-सूची

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ २००
सजिल्द ₹ २२०

विदेशमें Air Mail सजिल्द शुल्क — वार्षिक US$ 45 (₹2700), पंचवर्षीय US$ 225 (₹13500) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

पंचवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ १०००
सजिल्द ₹ ११००

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका, सहसम्पादक—डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : kalyan@gitapress.org | ✆ (0551) 2334721

सदस्यता-शुल्क—व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।
Online सदस्यता-शुल्क-भुगतानहेतु-www.gitapress.org पर Online Magazine Subscription option को click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर निःशुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—प्रभुको पहचाननेवाले भक्तके द्वारा पूजा कैसी होती है, यह हमें जानना चाहिये। संत एकनाथके जीवनकी एक घटना है, जिससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उस समय भारतवर्षमें रेल नहीं थी। दक्षिण भारतसे उत्तरकी सीमा हिमालयकी गंगोत्तरीतक आना सहज काम नहीं था। हृदयमें प्रभुके दर्शन करते हुए संत एकनाथ गंगोत्तरी आये। वहाँके पुनीत जलको काँवरमें भरकर ले चले। काशी होते हुए रामेश्वरकी ओर जाने लगे। वहाँ जाकर उस जलसे वे प्रभुकी पूजा करना चाहते थे। धीरे-धीरे रामेश्वर निकट आने लगा; आते-आते अत्यन्त समीप आ गया। ग्रीष्म ऋतु थी। एक दिन दोपहरकी जलती धूपमें एकनाथने रेतीले मैदानमें एक गधेको पड़े छटपटाते देखा। वे उसके निकट चले गये। देखा कि प्याससे उस असहाय पशुकी बुरी दशा हो रही है। नाथको अनुभव हुआ, मेरी पूजा स्वीकार करनेके लिये ही प्रभु यहीं पधार गये हैं। अविलम्ब उन्होंने काँवर उतारी और गंगोत्तरीका वह पुनीत जल गधेके मुखमें डालना आरम्भ किया। ठण्डा जल पीनेसे उस मरणासन्न प्राणीमें प्राणोंका नवीन संचार हो आया। गधा उठा, एकनाथकी पूजा सम्पन्न हो गयी। वे उल्लासमें भर रहे थे, किंतु उनके अन्य साथी दु:ख कर रहे थे कि 'हाय, इतने परिश्रमसे लाया हुआ गंगोत्तरीका जल व्यर्थ चला गया। रामेश्वर जाकर इससे प्रभुकी पूजा नहीं हो सकी। इस जीवनमें पुन: गंगोत्तरीसे जल लाकर पूजा हो सकेगी, यह तो सम्भव नहीं।' उनकी भावना देखकर एकनाथ हँसे। हँसकर बोले—'भाइयो! शरीरका परदा हटाकर देखो; फिर दीखेगा कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मेरी पूजा तो रामेश्वरके मन्दिरमें विराजित स्वयं प्रभुने यहींसे स्वीकार कर ली।'

याद रखो—अब कहीं हम भी संत एकनाथकी तरह विश्वके कण-कणमें विराजित प्रभुको पहचान सकते तो हमारी पूजा भी सर्वांगीण पूजा बन जाती। हमारी आजकी जो यह दशा है कि पासकी नदीसे जल भरकर हम किसी मन्दिरमें प्रभुकी पूजा करने चलते हैं, मन्दिरसे कुछ दूरपर ही हमें एक ऐसा असहाय, अपेक्षित प्राणी—पशु नहीं, मनुष्य मिलता है, जिसके अन्तिम श्वास आ रहे हों, हमारी दृष्टि भी उसपर पड़ जाती है, पर हम उस ओरसे दृष्टि हटा लेते हैं, क्षणभरके लिये रुककर कौतूहलकी दृष्टिसे हम भले कुछ पूछ-ताछ कर लें, किंतु आखिर हमारा भी उस मरणासन्न व्यक्तिके प्रति कोई कर्तव्य है—यह भावना भी हमारे मनमें नहीं उद्दीप्त होती। अधिक-से-अधिक कुछ हुआ तो इतना कि करुणामिश्रित दो-चार शब्द मुँहसे उच्चारण कर लेते हैं और फिर मन्दिरमें पूजा करने चले जाते हैं! इतना भी नहीं करते कि अपने लोटेके जलकी कुछ बूँदें उस मुमूर्षुके सूखते हुए कण्ठमें तो डाल दें—हमारा ऐसा व्यवहार प्रभुको पहचाननेपर कदापि नहीं होता। फिर तो हमें भी यह दीखता कि मन्दिरके देवता हमारी पूजा ग्रहण करनेके लिये यहाँ इस रूपमें प्रकट हो गये हैं तथा उस समय केवल जल ही नहीं, हमारे पास जो कुछ भी साधन प्राप्त हैं, हमारे द्वारा जो कुछ भी होना सम्भव है, उन सबका पूर्ण उपयोग करते हुए पूरी तत्परतासे हम उस रूपमें विराजित प्रभुकी पूजामें ही जुट पड़ते।

'शिव'

भगवान्‌के विशुद्ध प्रेमका उपाय

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवत्प्रेमका वर्णन करना वाणीका विषय नहीं है। भगवत्प्रेमका वर्णन वाणीसे कौन कर सकता है। भगवान् भी चाहें तो वे भी नहीं कर सकते; क्योंकि वर्णन भगवान् भी तो वाणीसे ही करेंगे।

नामके विषयमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—कहाँतक मैं भगवान्‌के नामकी बड़ाई करूँ, भगवान् स्वयं अपने नामका गुण-गान नहीं कर सकते—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा०च०मा० १।२६।८)

जैसे भगवान् अपने नामकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते, वैसे ही भगवान्‌के प्रेमका—विषय-तत्त्वका—रहस्यका वाणीके द्वारा वर्णन होना कठिन है। यहाँ नामकी जगह 'प्रेम' शब्द रख दो। ***'कहौं कहाँ लगि प्रेम बड़ाई। रामु न सकहिं प्रेम गुन गाई॥'***

दूसरी बात यह है कि प्रेमके विषयमें यत्किंचित् भगवान्‌के प्रेमी भक्त ही कुछ कह सकते हैं। तीसरी बात यह है कि भगवान् श्रीरामका और भरतजीका जहाँ मिलाप हुआ, उस जगह तुलसीदासजीने यहाँतक कह दिया कि भरतजी और श्रीरामजीके मिलनका जो प्रेम है, प्रेमका जो विषय है, कविकी सामर्थ्य नहीं कि उसका वर्णन कर सके। जैसे गाँडरकी ताँतसे सुराग नहीं गायी जा सकती, उसी प्रकारसे भरतजीका रामचन्द्रजीके साथ जो प्रेमका विषय है, वह गाया नहीं जा सकता। फिर भी कुछ-न-कुछ चर्चा करनी है।

भगवान्‌के प्रेमके विषयकी बड़ी अच्छी बात है। संसारमें यदि प्रेम करना है तो भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये; क्योंकि भगवान् ही प्रेमके सर्वस्व हैं, यानी प्रेमका तत्त्व-रहस्य जाननेवाले भगवान् ही हैं। सारी दुनियाका प्रेम इकट्ठा कर लें तो भगवत्प्रेमके एक अंशका भी अंश नहीं हो सकता। भगवान् प्रेमका जितना मूल्य चुकाते हैं, उतना कोई भी नहीं चुकाता। भगवान् प्रेमसे खरीदे जाते हैं। सारे संसारसे प्रेम हटाकर—प्रेम बटोरकर केवल भगवान्‌से ही प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌को छोड़कर और किसीके साथ प्रेम करना समयको बर्बाद करना है। भगवान्‌से बढ़कर संसारमें कोई है ही नहीं। इसलिये भगवान्‌को छोड़कर दूसरी चीजसे प्रेम करना मूर्खता है।

भगवान्‌में प्रेम कैसे हो? यह एक प्रकारका भाव है, जिज्ञासा है। इस बातकी प्रतिक्षण हृदयमें लगन रहनी चाहिये। यह भाव जाग्रत् रहना चाहिये कि 'भगवान्‌में प्रेम कैसे हो?' भगवान्‌में प्रेम हो सकता है। जैसे रुपयेका लोभी 'रुपया कैसे मिले', 'रुपया कैसे मिले'—इस प्रकार रटता है तथा रुपयोंके लिये कुछ-न-कुछ प्रयत्न करता रहता है। रुपये मिलें या न मिलें, पर भगवान् तो मिलते ही हैं। जो भगवान्‌से प्रेम करता है, भगवान् उससे प्रेम करते हैं। यह बात रुपयेमें लागू नहीं पड़ती; क्योंकि यदि कोई रुपयोंसे प्रेम करता है तो रुपया उससे प्रेम नहीं करता, कारण कि रुपया जड़ है। पुरुष रुपयेका दास है, अर्थ—रुपया किसीका दास नहीं है, इसलिये कि रुपयेके पास हृदय नहीं है। पर भगवान्‌के पास हृदय है और है बहुत कोमल। जो भगवान्‌से प्रेम करता है, उससे भगवान् प्रेम करते हैं। जो भगवान्‌को जिस प्रकारसे भजता है, भगवान् भी उसे उसी प्रकारसे भजते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

इसके आगे कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(७।१७)

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्त बतलाये हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन चारों प्रकारके भक्तोंमें जो नित्य-युक्त ज्ञानी भक्त है, वह है केवल एक भक्तिवाला, वह सबसे श्रेष्ठ

है। मैं ज्ञानीको अतिशय प्यारा हूँ और ज्ञानी मुझे अतिशय प्यारा है। फिर इसी सन्दर्भमें कहते हैं—जो भक्तिसे मुझे भजते हैं, वे मेरे हृदयमें हैं और उनके हृदयमें मैं हूँ—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

भगवान् प्रेमका तत्त्व जिस प्रकार जानते हैं, वैसा कोई दूसरा जानता ही नहीं।

भगवान् रामको केवल प्रेम प्यारा है। इसका तत्त्व कोई जानना चाहे तो जान सकता है। रामचरितमानसमें आया है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

सत्पुरुषोंका भगवान्‌में प्रेम है। इसलिये उनका संग करनेसे यानी सत्संग करनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रा०च०मा० ७।६१)

सत्संगके बिना हरिकथा नहीं मिलती और बिना हरिकथाके मोह यानी अज्ञानका नाश नहीं होता तथा अज्ञानके नाश हुए बिना हरिमें अनुराग यानी दृढ़ प्रेम नहीं होता। अज्ञानके नाशसे भगवान्‌में दृढ़ प्रेम होता है, अज्ञानका नाश मोहके नाशसे होता है और मोहका नाश हरिविषयक कथा-श्रवणसे होता है और हरि-कथाका श्रवण सत्संगसे मिलता है। भगवान्‌में दृढ़ प्रेम सत्संगसे ही होता है। भगवान्‌में प्रेम सत्संग करने तथा सत्पुरुषोंके संग करनेसे होता है और होता है भगवान्‌में विश्वास होनेपर, श्रद्धा होनेपर; क्योंकि ***'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती'***—बिना विश्वासके प्रेम नहीं होता। फिर प्रश्न होता है कि श्रद्धा कैसे हो? उत्तर है—श्रद्धा होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

(गीता १७।३)

[भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—] हे भारत! सबकी श्रद्धा अन्तःकरणके अनुसार होती है। जिसका अन्तःकरण जैसा पवित्र होता है, वैसी ही श्रद्धा होती है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह पुरुष होता है। प्रश्न उठता है कि 'अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो?' इसका उत्तर है 'अन्तःकरण शुद्ध होता है भगवान्‌के भजनसे, भगवान्‌के नामके जपसे, भगवान्‌का ध्यान करनेसे।' इससे श्रद्धा भी होती है और प्रेम भी होता है। यदि कहो कि 'ध्यान न लगे तो?' ऐसी स्थितिमें ध्यान न लगे तो कोई हर्जकी बात नहीं, केवल भगवान्‌के नामका जप ही करना चाहिये। रामचरितमानसमें कहा है—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

भगवान्‌का ध्यान न लगे तो भगवान्‌के नामका जप करना चाहिये, उससे हृदयमें विशेष स्नेह यानी विशेष प्रेम अपने-आप ही हो जाता है। भगवान् बराबर कहते हैं—***'मानउँ एक भगति कर नाता'***—मेरा एक प्रेमका ही नाता है और जितने जो नाते हैं सब कमजोर हैं, प्रेमका नाता सबसे बलवान् है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ प्रेमका नाता जोड़ना चाहिये। 'प्रेम कैसे हो?' उत्तर है—'भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करनेसे। जैसे—स्वामी और सेवकका परस्पर सम्बन्ध होता है। प्रभु हमारे स्वामी हैं और हम प्रभुके सेवक। अथवा पति-पत्नीका सम्बन्ध है। स्वामी हमारे पति हैं और मैं उनकी पत्नी। अथवा भगवान्‌के साथ निकटताका सम्बन्ध या भगवान् हमारे सखा हैं, ऐसा सम्बन्ध मानना।' स्त्रियाँ सम्बन्ध इस प्रकार जोड़ें कि 'भगवान् हमारे सखा हैं और मैं उनकी सखी।' किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ें, जैसे—पिता-पुत्रका, समझे कि प्रभु हमारे पिता हैं और हम उनके पुत्र अथवा जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ें, जैसे—जीवात्मा परमात्माका अंश है, समझे कि मैं जीवात्मा परमात्माका अंश हूँ। भगवान्‌ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

इस शरीरमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। इससे सिद्ध होता है कि स्वाभाविक ही भगवान्‌के साथ हमारा जन्मसिद्ध सम्बन्ध है। हम प्रभुके अंश हैं और भगवान् अंशी। तुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

यह जीवात्मा ईश्वरका अंश है, चेतन है, मलरहित है, निर्मल है और आनन्दकी राशि है। भगवान्‌के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है, हम उसे भूले हुए हैं, इसीलिये संसारमें भटकते फिरते हैं। यदि हमें यह अनुभव हो जाय कि ईश्वरके साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध है तो ईश्वरको छोड़कर हम और किसीसे प्रेम कर ही नहीं सकते। ईश्वरके साथ तो सब प्रकारका सम्बन्ध जुड़ सकता है। जैसे—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे देवदेव! आप ही हमारे माता हैं, आप ही हमारे पिता हैं, आप ही हमारे बन्धु हैं, आप ही हमारे सखा तथा आप ही हमारे विद्या, आप ही हमारे धन और सर्वस्व हैं अर्थात् हमारे जो कुछ भी हैं, सब आप ही हैं। हे भगवन्! आप ही हमारे स्वामी, पति, प्राण, जीवनके आधार यानी जो कुछ भी हैं, वह सब आप ही हैं।' इस प्रकार हम भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ें तो भगवान्‌में प्रेम बढ़ता ही जायगा।

'भगवान्‌से बढ़कर संसारमें और कोई है ही नहीं,' इस प्रकारका निश्चय करनेसे और 'प्रेमका तत्त्व केवल एक भगवान् ही जानते हैं' इसपर विश्वास होनेसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है। भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा होनेपर भी भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है। भगवान्‌के लिये विरहकी व्याकुलता बढ़ानी चाहिये, जैसे भरतजीमें बढ़ी, वैसे ही भगवान्‌में प्रेम बढ़े।

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, वाणीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे बतला सके। यह नित्य वर्धमान है, नित्य बढ़ता रहता है। भगवान्‌के प्रेमीकी यह पहचान है कि भगवान्‌का प्रेमी भगवान्‌के बिना रह नहीं सकता, भगवान्‌के वियोगमें जी नहीं सकता, यह प्रेमीके प्रेमकी पराकाष्ठा है। जब भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, तब उसी समय भगवान् मिल जाते हैं। जब भगवत्प्रेमीका भगवान्‌में अतिशय प्रेम हो जाता है तो भगवान्‌से वह अलग नहीं रह सकता, अलग रहनेपर तो जलके बिना जैसे मछली तड़पती है, वैसे वह तड़फ-तड़फकर मर जाता है। भगवान् अपने प्रेमी भक्तको मरने नहीं देते; लेकिन मछलीकी-जैसी दशा हो जाती है। जैसे भगवान्‌के वियोगमें गोपियाँ व्याकुल हो गयीं, विरहमें व्याकुल होकर तड़पने लगीं। मरनेकी तैयारी हुई तो भगवान् प्रकट हो गये। इसी प्रकार भरतजी महाराज भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो गये और मरनेकी तैयारीमें जब हो गये तो उसी समय रामजीने पहले हनुमान्‌जीको भेजा और फिर स्वयं आ गये—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत॥

(रा०च०मा० ७।१क)

रामका जो विरह-सागर है, उसमें भरतका मन
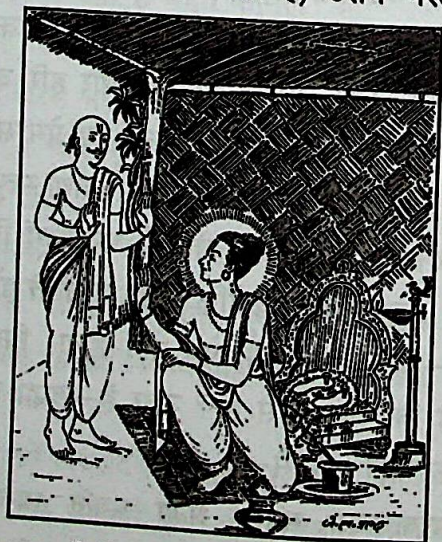
मग्न हो गया, ऐसी स्थितिमें ब्राह्मणका रूप धारण करके हनुमान्‌जी वहाँ आ पहुँचे। जैसे कोई डूबते हुएके लिये

कोई नौका आ पहुँचती है। हनुमान्‌जी भरतजीके पास पहुँच करके उन्हें बताते हैं कि 'आप जिनका रात-दिन नाम जपते हैं, वे देवताओं और मुनियोंका उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीराम राक्षसोंको मारकर युद्धमें विजय पा करके अपने भाई लक्ष्मण और सीताके साथ आ रहे हैं।' यह सुनकर भरतजीको इतना आनन्द हुआ—इतना आनन्द हुआ कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं; क्योंकि भरतके प्राण बच गये, कारण, भरतका राममें इतना प्रेम था कि भरतजी महाराज भगवान् रामके विरहमें जी नहीं सकते थे। भरतजीने कह भी दिया था—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर मेरी देहमें यदि प्राण रह जायँ तो समझना चाहिये कि 'इस संसारमें मेरे समान कोई पापी नहीं है।' भाव यह है कि भगवान् अवश्य ही आयेंगे, पहुँचेंगे और दर्शन देंगे। ऐसा हो ही नहीं सकता कि भगवान् नहीं आयें। उनको दृढ़ विश्वास था कि भगवान् अवश्य आयेंगे। किंतु यदि किसी कारणसे नहीं आये तो मेरी देहमें प्राण नहीं रहेंगे। यदि वास्तवमें हमारा प्रेम भगवान् राममें सच्चा है तो उनके वियोगमें हम जी नहीं सकेंगे। यदि प्राण नहीं निकले तो यह समझना चाहिये कि मेरे समान कोई पापी नहीं; क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है—चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होते-होते राम यदि नहीं आये तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। अग्निमें तो मनुष्य हठसे भी प्रवेश कर सकता है, पर यदि मुझे अग्निमें प्रवेश करके भी प्राण त्यागने पड़ें तो फिर समझना चाहिये कि मेरे समान कौन पापी है? तब मेरे हृदयमें प्रेम कहाँ? प्रेमका तो स्वरूप यह है कि भक्तके प्राण अपने प्रेमीके बिना—प्रेमास्पदके बिना रह नहीं सके। यदि मैं जीता रह जाऊँ तो मुझमें प्रेम कहाँ रहा? प्रश्न होता है कि ऐसी स्थितिमें चौदह वर्षतक कैसे जीवित रहे? उत्तर है कि भरतमें केवल प्रेम ही नहीं था, श्रद्धा भी थी। वाल्मीकिरामायणमें बात आयी है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीको वसिष्ठजीके द्वारा समझा करके भेजा कि चौदह वर्षकी अवधितक तुम राज्य-कार्य करो, फिर मैं आऊँगा। वहाँ भरतजीने कहा कि चौदह वर्षकी अवधिके लिये कुछ आधार दे दो—अपनी चरणपादुका दे दो। इसपर भगवान्‌ने अपनी चरणपादुका दे दी। भरत उस चरणपादुकाको भगवान्‌का स्वरूप समझकर नंदिग्राममें आये और सिंहासनपर प्रतिष्ठितकर तथा उनसे पूछ-पूछकर राज-काज सँभालने लगे।

भगवान् श्रीरामजीने अपने १४ वर्षके वनवास-कालमें जब लंकापर विजय प्राप्त की, तब विभीषणने आकर कहा—'भगवन्! अब चौदह वर्षकी अवधि समाप्त हो गयी है, अब आप कुछ दिन शहरमें चलें। लंकाका कोष, खजाना, राजधानी—इन सबको देखें।' भगवान्‌ने कहा—'विभीषण! तुम्हारा जो कोष और खजाना है, वह सब मेरा ही है, मुझे भरतकी स्मृति हो आयी है, यदि चौदह वर्षकी अवधितक मैं नहीं पहुँचूँगा तो मेरा भाई भरत मुझे जीवित नहीं मिलेगा। इसलिये जल्दी-से-जल्दी मुझे अयोध्या पहुँचाओ।' यह है उच्चकोटिके प्रेमकी कसौटी। [क्रमशः]

भगवत्प्रेमसे हीन मानवका स्वरूप

जो पै रहनि रामसों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबहीके।
मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पीके॥
सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥
कीरति, कुल करतूति, भूति भलि, सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥

[तुलसीदास]

दरिद्र और श्रीमान्

(बहन श्रीजयदेवीजी)

[को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः]

श्यामा—बहन, मैं सुनती हूँ कि ईश्वर सम है, परंतु यह जगत् तो प्रत्यक्ष ही विषम दिखायी देता है। यहाँपर कोई दरिद्र है तो कोई श्रीमान् है, कोई सुखी है तो कोई दुखी है। फिर ईश्वरने ऐसे विषम जगत्‌को क्यों और कैसे बनाया? हरिभक्तोंका कथन है कि हरि ही जगत् है और जगत् ही हरि है। इस कथनसे दरिद्र और श्रीमान् सब हरि ही हुए, परंतु देखनेमें यह आता है कि दरिद्र प्रायः दुखी रहता है और श्रीमान् प्रायः सुख भोगता है। इस प्रकार दुखी और सुखी भी हरि ही हुए, किंतु जब हरि ही दुखी और सुखी हुए तो फिर वे सम कहाँ रहे? स्वभाव तो किसीका बदलता नहीं है। जैसे आग उष्ण है, वह शीतल नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम हरि भी विषम नहीं हो सकते। विषम न होनेसे दरिद्र या श्रीमान् नहीं हो सकते तथा दरिद्र या श्रीमान् न होनेसे सुखी या दुखी नहीं हो सकते, परंतु जगत्‌में तो इस प्रकारकी विषमताएँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, इसलिये यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध पड़ता है।

कोकिला—ठीक है बहन, पर तुम्हारा यह प्रश्न अपने आत्मस्वरूप हरिको न जाननेके कारण ही उठ रहा है। वरना हरि तो निर्गुण अविकारी होनेके कारण सर्वदा एक समान ही हैं। हरिके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवालोंको ही जगत्‌में दरिद्र और श्रीमान्‌का भेद दिखायी देता है तथा वे अपनी धारणाके अनुसार अपनी अथवा अन्यकी दरिद्रता एवं श्रीमन्तताका आरोप श्रीहरिमें भी करते हैं, परंतु वास्तवमें यह उनकी भ्रान्ति ही है। पारमार्थिक दृष्टिसे तो कोई दरिद्र अथवा श्रीमान् है ही नहीं, लौकिक दृष्टिसे भी देखा जाय तो कोई दरिद्र अथवा श्रीमान् सिद्ध नहीं होता; क्योंकि लोकमें तो साधारणतया निर्धनको ही दरिद्र और धनीको ही श्रीमान् कहा जाता है, परंतु यहींके विद्वान् पुरुषोंका कथन है कि धनहीन दरिद्र नहीं है, प्रत्युत जिसकी तृष्णा बहुत बड़ी है, वह चाहे कितना ही धनशील क्यों न हो, वस्तुतः वही दरिद्र है और जिसके पास सन्तोष है, वह चाहे कितना ही निर्धन क्यों न हो, वही श्रीमान् है। इसी बातको पूज्यपाद श्रीभाष्यकारजीने भी 'प्रश्नोत्तरी' में कहा है और लोकमें तो ये कहावतें प्रचलित ही हैं कि 'अमीरी मनसे है, धनसे नहीं। जिसका मन उदार है, वह कंगाल भी मालामाल है और जिसका मन दीन है, वह मालामाल होनेपर भी कंगाल है।' इस सम्बन्धमें मैं तुमको एक शिक्षाप्रद कहानी सुनाती हूँ, सुनो—

एक सेठानी थी, दूसरी ठकुरानी। उन दोनोंमें बड़ी मित्रता थी! वे परस्पर सहोदर बहनों-जैसा बर्ताव करती थीं। पहले तो दोनों ही मालदार थीं, पर पीछे दैवयोगसे अथवा यों कहिये कि पूर्वका पुण्य क्षय हो जानेसे, उनमेंसे ठकुरानी कंगाल हो गयी। एक दिनकी बात है, सेठानी ठकुरानीके घर आयी और उसके हाथमें कुछ रुपये देकर इस प्रकार कहने लगी—'बहन! लक्ष्मी बड़ी ही चंचल है, वह सर्वदा एकके पास नहीं रहती। कभी यहाँ, कभी वहाँ, इसी प्रकार उसका फेरा लगा करता है। आजकल तुम्हारे यहाँ रुपये-पैसेकी तंगी है। इसलिये मैं ये रुपये तुम्हें देती हूँ, ये तुम्हारे लड़के-बच्चोंके काम आ जायँगे। मेरा धन तुम्हारा ही धन है तथा तुम्हारे बाल-बच्चे मेरे ही बाल-बच्चे हैं। मुझमें और अपनेमें भेद मत मानो, ये रुपये ले लो और भी समय-समयपर मैं तुम्हारी मदद करती रहूँगी।'

इस बातको सुनकर ठकुरानीने उत्तर दिया—'बहन! मैं तुम्हारा उपकार मानती हूँ, पर हम दोनोंमें इस

धनके कारण मित्रता नहीं हुई है। बल्कि हम दोनों परस्पर प्रेमके कारण ही मित्र बनी हैं। यह ठीक है कि तुम्हारा धन मेरा ही धन है तथा मेरे बाल-बच्चे तुम्हारे ही बाल-बच्चे हैं, फिर भी तुम मुझको जैसी निर्धन समझती हो, वैसी मैं नहीं हूँ। मेरे यहाँ धनकी तो जरूर कमी है, परंतु मेरा मन कदापि दरिद्र नहीं है। वह उदार है। कोई मालमें मस्त है तो कोई खालमें मस्त है। अपने रुपये तुम अपने पास रखो अथवा किसी दानके पात्रको दे दो। दान लेनेके वास्तविक अधिकारी ब्राह्मण ही हैं, क्षत्रिय और वैश्य तो दान देनेके ही अधिकारी हैं। मेरे पास दान देनेके लिये धन नहीं है, यह दूसरी बात है। पर बिना अधिकार और बिना परिश्रमके मैं तुम्हारे रुपये लेना उचित नहीं समझती। क्षमा करना। क्या तुमने राजा विक्रमादित्यकी कथा नहीं सुनी है? उन्होंने तो बिना परिश्रम प्राप्त हुई रत्न-राशिको भी ठुकरा दिया और देनेवालेको अनेक प्रकारसे धिक्कारा।'

सेठानी इस बातको बड़े गौरसे सुन रही थी। उसने कहा—'बहन! राजा विक्रमकी पूरी कथा क्या है, जरा उसे भी तो सुनाओ।'

ठकुरानी बोली—'राजा विक्रमके पहले उनका भाई उज्जैनमें राज्य करता था। उसने विक्रमादित्यको अपने अधिकारका कण्टक समझकर राज्यसे बाहर निकाल दिया था। विक्रमादित्य जंगलमें मारे-मारे फिरते थे। उनके साथ केवल एक ब्राह्मण था, जो उनका पुराना मित्र था। एक दिन उस ब्राह्मणने विक्रमादित्यसे कहा—'मित्र! अभी तुम्हारे राजा होनेमें तो देर है, परंतु मैंने सुना है कि यहाँसे कुछ दूरपर 'रत्नद' नामका एक पर्वत है। वहाँ जाकर, जो कोई उससे रत्न माँगता है, उसको वह मुँहमाँगा रत्न दे देता है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो आओ, हम दोनों वहाँ चलें। शायद, कुछ रत्न हाथ लग जायँ।'

ब्राह्मणकी इस बातपर विक्रमादित्यको बड़ा अचम्भा हुआ। वे वहाँ जानेके लिये उद्यत हो गये। निदान वे दोनों मित्र उस पर्वतकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचनेपर ब्राह्मणने विक्रमको पर्वतके पास खड़ा कर दिया और स्वयं बस्तीमें एक कुम्हारके घर गया। उसने कुम्हारसे पर्वत खोदनेके लिये कुदाल माँगी और उससे रत्न मिलनेकी युक्ति पूछी। कुम्हारने उत्तर दिया—'महाराज! जो कोई इस पर्वतके पास खड़ा होकर—'हा दैव! मैं दीन हूँ, दुखी हूँ, मुझे रत्न दीजिये'—ऐसा कहता है और ऐसा कहकर उसके ऊपर कुदाल चलाता है, उसे तुरंत रत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है। यदि इतना न कह सके तो 'हा दैव' इतना तो कहना ही पड़ता है। बिना इतना कहे रत्न नहीं मिलता।'

यह सुनकर ब्राह्मणने कुदाल उठायी और वह विक्रमादित्यके पास चल दिया। मार्गमें ब्राह्मणने सोचा कि 'विक्रमादित्य बड़े धीर, वीर और उदार पुरुष हैं। वे कुम्हारकी बतलायी हुई इस बातको अपनी जबानपर कभी नहीं ला सकेंगे। उनके मुँहसे तो पूरी बातको कौन कहे, 'हा दैव' इतना भी न निकल सकेगा। तब फिर रत्नोंकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी? अच्छा, एक उपाय है। विक्रमसे ऐसे कुछ न कहकर, जब वह कुदाल चलाने लगेंगे, तब मैं उनको उनकी माताके मर जानेकी सूचना दे दूँगा। उस समय कुदाल भी चल जायगी और उनके मुँहसे 'हा दैव' भी निकल जायगा। बस, इतनेसे ही काम बन जानेकी आशा है। अन्य कोई उपाय नहीं है'—यह सोचते-सोचते ब्राह्मण विक्रमके निकट पहुँच गया और कुदाल उनके हाथमें दे दी। विक्रमने समझा केवल कुदाल चलानेसे रत्न मिल जायगा और उन्होंने उस पर्वतपर कुदाल आजमायी। इतनेमें ब्राह्मणने झटसे उनकी माताकी मृत्युका संवाद सुना दिया। विक्रम यह सुनते ही सहम गये और 'हा दैव, मैं मारा गया'—ऐसा कहकर उन्होंने कुदालको फेंक दिया तथा बैठ गये। इधर कुदालका पर्वतपर गिरना था कि रत्न निकल आये। थोड़ी देर बाद ब्राह्मणके कहनेसे विक्रमने रत्नोंको उठा लिया और

दोनों वहाँसे चल पड़े। मार्गमें ब्राह्मणसे न रहा गया। उसने विक्रमसे कुम्हारका और अपना सारा वृतान्त सुना दिया। अपनी उस युक्तिको भी वह छिपा न सका। यह सब सुनते ही वीर विक्रम झुँझला पड़े। उनको बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने रत्नोंको पीछे फेंक दिया और वे पर्वतको सम्बोधित करके गरजकर बोले—

'अरे ओ पर्वत! तेरा नाम तो रत्नद है, पर है तू वास्तवमें कष्टद। तू कृपणोंमें भी निकृष्टतम कृपण है, बल्कि तुझको कृपण भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कृपण तो केवल अपना धन ही दूसरेको नहीं देता है, उसे संचित रखता है। पर तू तो लुटेरा है। तू दूसरेकी धीरता, वीरता, उदारता आदि सम्पत्तियोंको छीनकर, उसे सर्वथा दीन बनाकर, बदलेमें कुछ थोड़ेसे रत्न देता है। बोल, यही तेरी उदारता है? तू उदार कहाँ रहा? उदार पुरुष तो दूसरेका उपकार करते हैं, परंतु तू तो दूसरेकी सुविशाल सम्पत्ति छीनकर और उसके बदलेमें थोड़ा-सा रत्न देकर वास्तवमें उसका अपकार करता है। तेरे पास रत्न लेने जो आते हैं, उन्हें धिक्कार है और उनसे भी अधिक तेरे-जैसे अपकारी और लुटेरेको धिक्कार है, बारम्बार धिक्कार है!'

इतनी कथा कह लेनेके बाद ठकुरानीने सेठानीसे कहा—'समझी बहन! उन्हीं राजा विक्रमके वंशमें मेरा जन्म हुआ है। तुम्हीं बतलाओ, मैं अपने कुलधर्मके विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकती हूँ? मैंने अपने जीवनमें आजतक बिना दाम दिये अथवा बिना पारिश्रमिक चुकाये कोई वस्तु नहीं ली और न कभी घरसे अकेली निकलकर बाहर पाँव रखा। अपने पूर्वजोंकी इन्हीं दो बातोंको तो मैंने आजतक निभाया भी है और भगवान्‌की कृपा हुई तो आगे भी निभानेकी कोशिश करूँगी।'

कोकिला—सुना बहन! तुमने? ठकुरानीके इस प्रकार धीरता, वीरता और उदारतायुक्त वचनोंको सुनकर सेठानीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसके धैर्य और सन्तोषकी मन-ही-मन प्रशंसा की और वह राजा विक्रमकी निस्पृहतापर आश्चर्य प्रकट करती हुई अपने घर चली गयी। इस तरह तुमने देखा कि क्षत्रिय और वैश्य जो वास्तवमें अपने धर्मका पालन करते हैं, वे कदापि दान नहीं लेते। ब्राह्मणोंमें भी जो चतुर ब्राह्मण हैं, वे अनुचित दान नहीं लेते हैं। कैसे नहीं लेते हैं, इसको मैं तुम्हें सुनाती हूँ। एक बार हमलोग मेरठ शहरमें गये थे। वहाँपर एक ब्राह्मणी हमारे पास आयी थी। वह कई वर्षोंसे तिजारी नामक रोगका शिकार बन गयी थी। मैंने उसको बतलाया कि यहाँपर अमुक औषधालयमें मुफ्त दवा मिलती है, वहाँ जाकर दवा ले लिया करो तो तुम्हारा रोग अच्छा हो सकता है। इसको सुनकर ब्राह्मणीने कहा—वहाँ गरीबोंको दवा मिलती है, पर मैं गरीब थोड़े ही हूँ। मेरे हृदयमें तो सब सेठोंके सेठ, सब राजाओंके राजा लक्ष्मीपति भगवान् जनार्दन बैठे हुए हैं। तब मैं कंगालिनी बनकर बिना दामकी दवा लेने क्यों जाऊँ? भगवान्‌की इच्छा होगी तो वे स्वयं किसी-न-किसीके हाथ दवा भेज ही देंगे अथवा बिना दवाके ही मेरा रोग अच्छा हो जायगा। अपना रोग देखकर तो मुझे ऐसा अनुमान होता है कि पूर्वजन्ममें मेरे पास तृष्णा बहुत अधिक थी, उसीका फल इस जन्ममें मुझे यह रोग मिला है; क्योंकि शास्त्रकारोंने तिजारीको तृष्णाका स्वरूप बतलाया है। तृष्णासे मनुष्यको कितना दुःख होता है, यह किसीसे छिपा नहीं है। तृष्णावाला मनुष्य न तो खा सकता है, न पहन सकता है और न दान ही दे सकता है। वह सदा 'और-और' के ही फेरमें पड़ा हुआ धन कमाने और जोड़नेकी ही चिन्तामें डूबा रहता है। इसलिये तृष्णावाले मनुष्यको यहाँ जो दुःख होता है, वह तो है ही, मरनेके बाद दूसरे जन्ममें भी तृष्णा उसका साथ नहीं छोड़ती है। वह दूसरे जन्ममें तिजारी रोगके रूपमें साथ रहती है और पीड़ित करती है। ऐसा संस्कारवेत्ताओंका मत है। इसके अतिरिक्त अनुचित दान पचता भी नहीं है। यदि उस औषधालयमें सबको मुफ्त

दवा दी जाती, तब वहाँसे मुझे भी दवा लानेमें कोई आपत्ति नहीं थी, पर वहाँ केवल गरीबोंको ही दवा दी जाती है, इसलिये गरीबोंकी चीजपर मेरा कोई अधिकार नहीं है।

कोकिला—क्या कहूँ, बहन! ब्राह्मणीकी इस बातको सुनकर मुझे प्रसन्नताके साथ-साथ बड़ा आश्चर्य हुआ। तुम्हीं सोचो, उसने कितनी अच्छी बात कही। अब तुमने तृष्णाका स्वरूप समझ लिया होगा। तृष्णा ही धनी या गरीबकी सृष्टि करती है। तृष्णाके सम्बन्धमें मैंने विद्वानोंके मुखसे यह भी कहानी सुनी है—

एक नाई और उसकी स्त्री दोनों जो कुछ कमाते थे, उसको वे उसी दिन खर्च कर दिया करते थे। दूसरे दिनके लिये कुछ भी शेष नहीं रखते थे। एक दिन नाइनसे एक यक्षिणीकी मुलाकात हो गयी। नाइनने उसकी बड़ी सेवा की। यक्षिणी उसकी सेवासे प्रसन्न हो गयी और उसने मुहरोंसे भरी हुई सात डेगें नाइनको दे दीं। छः डेगोंमें तो उनके मुखतक मोहरें भरी थीं, केवल एक डेग कुछ खाली थी। नाई और नाइनने जब उन डेगोंको देखा तो वे दोनों मारे लोभके खाना-पीनातक भूल गये। उन्होंने सोचा—यह जो एक डेग खाली है, इसको भर देना चाहिये। यह सोचकर वे दोनों अपनी कमाईसे उस डेगको भरने लगे। दोनों जो कुछ कमाकर लाते थे, सब उसीमें डालते जाते थे, परंतु यह मसल है कि यक्षोंकी डेग कभी नहीं भरती। वे दोनों पति-पत्नी सालभरतक उसको भरते रहे, पर डेग किसी प्रकार न भरी। तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे चिन्तामें सूखने लगे। उनके शरीरका रक्त सूख गया, गाल पिचक गये, आँखोंसे कम दिखायी देने लगा, कमर झुक गयी, परंतु फिर भी उन दोनोंपर लोभका ऐसा भूत सवार था कि वे उस खाली डेगको भरनेकी ही कोशिशमें लगे थे, परंतु डेगकी यह दशा थी कि वह उतनी-की-उतनी ही खाली रहती थी। इस बातको एक संत जानते थे। उनको इस दम्पतीकी दुर्दशा देखकर बड़ी दया आयी। उन्होंने अपनी तन्त्रविद्यासे उस यक्षिणीको बुलाया और उससे कहा कि तुम अपने इन सब डेगोंको उठा ले जाओ। यक्षिणीने ऐसा ही किया। इधर नाई और नाइनने जब डेगोंको लापता देखा तो वे रोने-पीटने लगे। पर दो-तीन दिनोंतक ही उनकी यह दशा रही। अन्तमें सन्तोष करके वे बैठ गये। यहाँतक कि कुछ दिनोंके बाद वे फिर पहले-जैसे सुखी हो गये। अस्तु,

बहन! इन सब बातोंको देख-सुनकर मैं तो यही कहूँगी कि तृष्णा क्षयरोगके समान अत्यन्त दुःखदायिनी है। वह धनीको भी कंगाल और शूरको भी कायर बना देती है। उससे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय सन्तोष है। सन्तोषद्वारा ही इस तृष्णाकी निवृत्ति होती है। भगवान् पतंजलिने कहा है कि सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। अपने आत्मस्वरूप ईश्वरसे बढ़कर और किसीमें सुख नहीं है। योगदर्शनकारका भी यही अभिप्राय है कि सन्तोषसे ही परमोत्तम सुख अथवा परमात्माकी प्राप्ति होती है और इसके प्रतिकूल तृष्णासे पुनः दुःखरूप संसारकी प्राप्ति होती है। इसलिये भाष्यकारका यह कथन कि विशाल तृष्णा ही दरिद्रता और सम्पूर्णरूपसे सन्तोष ही श्रीमत्ता है, ठीक ही है। अतः श्रेयाभिलाषियोंका यह परम कर्तव्य है कि वे संसारकी ओर ले जानेवाली तृष्णाका मनसे परित्याग और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले सन्तोषका प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करें। अच्छा बहन! फिर कभी। इस बातको तो इतना ही और कहकर समाप्त करती हूँ—

धनी निर्धनी सभी दुखी हैं दुखिया दुनिया सारी।
सुखी नहीं है कोई जगमें नर हो अथवा नारी॥
सन्तोषी ही सुखी एक है, तृष्णा जिसने मारी।
'जयदेवी' के धन लक्ष्मीपति प्रणतपाल गिरिधारी॥
राजा-रंक सभी हैं मरते त्यागी या व्यापारी।
तृष्णा डाइन ही नहिं मरती दुनिया इससे हारी॥
तृष्णा त्यागी, वही धीर है, शूर वही है भारी।
'जयदेवी' तू भी तृष्णा तज, भज ले कृष्णमुरारी॥

मनुष्यकी अधोमुखी प्रवृत्ति और उससे बचनेके उपाय

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

जैसे सारे शरीरके सभी अंगोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है, किसी भी अंगपर आघात होता है तो हम उसे अपने ऊपर आघातका अनुभव करते हैं और स्वाभाविक ही सभी अंग एक-दूसरे अंगकी रक्षा तथा कल्याण-साधनामें लगे रहते हैं, वैसे ही समस्त समष्टि जगत्में भी एक ही आत्मा व्याप्त है, इस सत्यका अनुभव हो जानेपर ही मानवकी मानवता पूर्णताको प्राप्त होती है। यही मानव-जीवनकी सफलता है। ऐसा हो जानेपर फिर कोई भी मानव किसी भी प्राणीका कभी बुरा नहीं चाहेगा, कभी किसीका अकल्याण नहीं करना चाहेगा, सबकी रक्षा करेगा और सबके कल्याण-साधनमें लगा रहेगा। भूल या प्रमादवश कभी कुछ अनिष्ट कार्य हो जायगा तो उसे वैसे ही दुःख होगा, जैसे भूलसे अपने ही द्वारा अपने किसी अंगपर चोट लग जानेसे हमें होता है। यह दूसरी बात है कि कभी किसी अंगमें अन्दर सड़न पैदा होनेपर जैसे हम उसका ऑपरेशन कराते हैं और अंगको कटवाकर सारे शरीरको विषके प्रभावसे बचा लेते हैं, ऐसे ही शुद्ध नीयत तथा कल्याणकी भावनासे कभी समष्टि जगत्में भी ऐसा कार्य करना पड़ता है, जो देखनेमें कठोर होता है, पर वास्तवमें वहाँ उद्देश्य विशुद्ध कल्याणसाधन ही होता है।

मनुष्यको अपने जीवनमें इसी लक्ष्यको सामने रखकर चलना चाहिये। यह निश्चय रखना चाहिये कि जिस कार्यके करनेसे परिणाममें दूसरोंका अहित या अकल्याण होगा, उससे हमारा हित या कल्याण कभी नहीं होगा एवं जिससे परिणाममें दूसरोंका हित या कल्याण होगा, उससे हमारा अहित या अकल्याण कभी नहीं होगा। यही धर्मका स्वरूप है। यही पाप और पुण्यकी परिभाषा है। दूसरोंका अकल्याण ही पाप है और दूसरोंका कल्याण ही पुण्य है; क्योंकि वास्तवमें समष्टि दृष्टिसे हम सब एक ही हैं। शरीरके किसी एक अंगके अहितसे हमारा ही अहित होता है और हितसे हमारा ही हित होता है, यही सत्य सिद्धान्त है।

मनुष्यका 'स्व' जब समष्टिसे निकलकर केवल व्यष्टिमें आ जाता है, तब उसका स्वार्थ (स्व-अर्थ) भी अपने व्यक्तित्वकी सीमामें ही संकुचित हो जाता है, फिर वह केवल अपने लिये सुख चाहता है, उसीके लिये सचेष्ट होता है, उसीके प्रयत्नमें लगा रहता है और जितना ही वह इस कुमार्गमें आगे बढ़ता है, उतनी ही उसकी विषयासक्ति तथा तज्जनित भोग-कामना बढ़ती रहती है। कामनापर जहाँ चोट लगती है, वहाँ क्रोधका उदय होता है और कामना जहाँ सफल होती है, वहाँ लोभ जाग उठता है। क्रोध और लोभ—दोनों ही मनुष्यकी बुद्धिका नाश कर देते हैं, फिर उसकी बुद्धिमें जो कुछ निश्चय होता है, सब जगत्के हितके विपरीत होता है और फलतः उससे उसका अपना अहित—विनाश तो निश्चित ही है—**'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'**

इसी बुद्धिनाशकी स्थितिमें मनुष्य अनुचित तथा अकल्याणकारी साधनोंद्वारा सुख-सामग्रीका संग्रह करना चाहता है—हिंसा, अधर्म-युद्ध, डकैती, चोरी, छल, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, प्रतिहिंसा, द्रोह, वैर, मद आदि दुर्गुण-दुराचार उसके जीवनके स्वभाव या स्वरूप बन जाते हैं। वह मनुष्यके रूपमें ही हिंसक पशु, असुर, पिशाच, राक्षस बन जाता है और अपने कुकृत्योंद्वारा अपना तथा जगत्के प्राणियोंका अहित करता हुआ अपने भविष्यको घोर पतन, दीर्घकालीन संकट, यातना, पीड़ा और विविध भयानक ताप-संतापोंका क्रीडा-क्षेत्र बना लेता है।

आजका मानव दुर्भाग्यवश इसी पतनकी ओर अग्रसर है। वह विश्वप्राणीकी सेवा, संयम, नियम, धैर्य, मन-इन्द्रियके निग्रह, अपरिग्रह, त्याग, प्रेम, उदारता, मर्यादा, शील, परदुःखकातरता, पर-हित-साधन, शान्ति, भगवद्विश्वास, विनय, विचारशीलता, शास्त्र-मर्यादा, परलोकको गतिका विचार आदिको भूलकर अत्यन्त संकुचित स्वार्थग्रस्त, असंयमी, उच्छृंखल, अधीर, मन-इन्द्रियोंका गुलाम, संग्रह-परायण, भोग-जीवन, घृणापरायण, निज सुखाकांक्षी, कृपण, मर्यादा-शून्य, शीलरहित, पर-सुख-कातर, पर-अहितपरायण, नित्य घोर अशान्त, उत्तेजित, आवेशमय, भगवद्विश्वासरहित, अभिमानी,

अविवेकी, शास्त्रमर्यादानाशक और केवल इहलोककी मान्यतावाला होकर जीवनकालमें भीषण चिन्ताओंकी अग्निसे जलता हुआ—असफलजीवन होता हुआ ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है। मृत्युके बाद तो दुर्गति—घोर नरकोंकी प्राप्ति होती ही है। मानव-जीवनका इस प्रकारका अन्त अत्यन्त ही शोचनीय है।

आज समष्टि और व्यष्टि-जगत्‌में जो कुछ हो रहा है, जो कुछ किया-करवाया जा रहा है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरणार्थ—विज्ञान विश्व-प्राणियोंके ध्वंसकी सामग्रीके आविष्कारमें लगा है, एक देश दूसरे देशको हड़प जाना चाहता है, एक वाद दूसरे वादको मिटा देना चाहता है, एक ही वाद या मतके लोग परस्पर एक-दूसरेके पतन और विनाशके प्रयत्नमें लगे हैं, धर्मके नामपर अन्य धर्मको छल-बल-कौशलसे मिटानेकी चेष्टा हो रही है, भगवान् तथा धर्मका तिरस्कार करके स्वेच्छानुसार आचरण तथा उच्छृंखल व्यवहार किया जा रहा है। शिक्षामेंसे नीति-धर्म, सदाचारका बहिष्कार करके बालकों, युवकों, बालिकाओं और युवतियोंको सदाचारविरोधी, चरित्रहीन, धर्मविमुख और यथेच्छाचारी बनाया जा रहा है। मर्यादित और संयमी जीवनके स्थानपर फैशन, शौकीनी, बाहरी बनावट, चरित्रभ्रष्टता, अनियन्त्रितता, उच्छृंखलता आदिको जीवनका स्वरूप बनाया जा रहा है, सो भी उच्चजीवनस्तरके नामपर मनुष्यके भोग तथा अर्थलाभके लिये विश्वके इतर प्राणियोंकी भाँति-भाँतिसे निर्दय हिंसाके आयोजन हो रहे हैं—बड़े-बड़े कसाईखाने इसके प्रमाण हैं। खान-पानमें सात्त्विकता तथा विशुद्धिके स्थानपर तामस वस्तुओंका, मद्य-मांस-अण्डोंका, अपवित्र अखाद्य पदार्थोंका प्रसार-प्रचार बढ़ाया जा रहा है, धनलोलुपता तो मनुष्यमें यहाँतक बढ़ी है और उसने मनुष्यको इतना गिरा दिया है कि वह छल, कपट, चोरीकी बात तो अलग रही, खान-पानकी वस्तुओंमें और दवाइयोंमें भी मनुष्यके लिये प्राणघातक वस्तुओंका मिश्रण करनेमें अपनेको द्रव्योपार्जनमें चतुर और बुद्धिमान् मानकर गौरवका अनुभव करता है। पवित्र विवाह-संस्था उठने लगी है और उसके स्थानपर पशुओंसे भी निकृष्ट अमर्यादित पशुताका हमारे युवक-युवतियोंमें उदय होने लगा है। गुरु-शिष्यका पवित्र तथा आदर्श सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो रहा है। गुरुओंमें स्नेह नहीं है और शिष्य इतने अनुशासनहीन तथा यथेच्छाचारी हो गये हैं कि गुरुओंपर घातक आक्रमण करते हैं। पैसोंके प्रलोभन, रिश्वत, दबाव, भय, छल, मिथ्या आश्वासन आदिके द्वारा जनतन्त्रोंका जीवन भयानक और घृणास्पद बनाया जा रहा है और इस प्रकार मानव आज अपने अविवेकके कारण मस्तिष्कका सन्तुलन खोकर मानवताके पतनके अनन्त विविध आविष्कार, विचार, योजना तथा कार्योंको नित्य नये-नये रूपोंमें अपनानेमें लगा है आत्यन्तिक अज्ञानकी महामोहमयी मदिराको पीकर! इससे पता लगता है कि मनुष्य किधर जा रहा है।

घोर दुःखकी बात तो यह है कि अध्यात्मप्रधान भारतमें—जहाँसे अतीतकालसे सारे विश्वको उसके उज्ज्वल चरित्रके द्वारा महान् प्रकाश मिलता था, आज स्वयं महान्धकारके गर्तमें गिरता चला जा रहा है। प्रकाश तिरोहित हो रहा है। यों ही होता रहा तो पता नहीं क्या होगा, पतन किस सीमातक जायगा। भारतके आस्तिक जनोंको इस घोर पतनोन्मुख परिस्थितिमें बड़े विश्वासके साथ ईश्वरकी आराधना करना चाहिये—सभी स्थानोंमें सभी प्रकारसे उसे जीवनका प्रथम तथा परम कर्तव्य मानकर। भगवत्कृपासे ही इस भयानक अन्धकारका नाश हो सकता है।

वस्तुतः तमसाच्छन्न बुद्धि या बुद्धि-भ्रष्टताके कारण विश्वमानव इसी प्रकार कुपथपर आगे बढ़ता रहा तो इसका परिणाम बहुत ही भयानक हो सकता है। सम्भव है, इसके परिणामस्वरूप विश्वमें विनाशकारी अस्त्रोंके युद्ध हो जायँ अथवा कोई भीषण महामारी हो जाय, जिससे प्रजावर्गका महान् संहार हो जाय। पापका परिणाम विनाश, दुःख, पीड़ा, नरकयन्त्रणा आदि होते हैं। प्रकृति किसीके साथ पक्षपात नहीं करती, भगवान्‌के मंगल-नियमोंसे आबद्ध वह अपनी नीतिका पालन करेगी ही। यह भगवान्‌की लीला है। इस विनाश-लीलामें साधु-चरित्रों, सात्त्विक मानवोंके भी भौतिक पदार्थों तथा भौतिक देहोंका भी प्रारब्धवश भगवान्‌के नियमानुसार

वियोग होगा ही, पर वे दुःख, पीड़ा, नरक-यन्त्रणाके भागी नहीं होंगे। परिवर्तनशील प्रकृतिके प्रत्येक परिवर्तनमें ईश्वरविश्वासी संत भगवान्‌की लीलाका चमत्कार देखते हुए नित्य प्रसन्न और लीला-वैचित्र्यके दर्शनसे प्रमुदित होते रहते हैं, भले ही वह लीला सुन्दर मधुर-रसकी हो या भयानक बीभत्स-रसकी। प्रत्येक लीलामें वे लीलामयके दर्शन करते हुए मुग्ध और आनन्दमग्न रहते हैं।

आत्माकी एकता तथा अमरता, उसके सच्चिदानन्द-स्वरूप तथा विश्वके रूपमें भगवान् ही प्रकट होकर सृजन-संहारकी अनवरत लीला करते हैं—ऐसा विश्वास रखने तथा अनुभव करनेवाले पुरुषोंपर इन परिवर्तनोंमें कोई दुःखमय प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे सदा ही नित्य सत्य सनातन भगवान्‌के मंगलमय विधानमें मंगलमयता ही देखते हैं। वे देखते हैं विश्वमें दो ही चीज—एक लीलामय भगवान्, दूसरी भगवान्‌की लीला एवं लीलाके रूपमें लीलामय ही प्रकट रहते हैं, अतएव एक भगवान् ही भगवान्।

तथापि जगत्‌में रहनेवाले, विधि-विधानके अनुसार कर्मोंके अवश्यम्भावी फलमें विश्वास करनेवाले हम मानव अपने कर्तव्यसे कभी च्युत न हों। सत्कर्म-परायण अवश्य रहें, फल तो भगवान्‌के हाथमें है। शास्त्रमें कहा गया है और वह यह सत्य है कि जब-जब मनुष्य धर्मकी अवहेलनाकर पाप-परायण हो जाता है, तब-तब दैवी विपत्तियाँ बड़े विशाल रूपमें आया करती हैं। उनको रोकने या उनका नाश करनेके लिये सबको अपने-अपने मत तथा विश्वासके अनुसार देवाराधना-भगवदाराधना करनी-करानी चाहिये।

देवाराधन करें-करायें निज निज मत श्रद्धा-अनुसार।
वेदाध्ययन, यज्ञ, गायत्री पुरश्चरण कल्याणाधार॥
सप्तशती, रुद्राभिषेक, जप-मृत्युञ्जय, नारायणवर्म।
पाठ गजेन्द्रमोक्ष, पावन सप्ताह भागवत पाठ सुकर्म॥
वाल्मीकि, मानस रामायण पारायण श्रद्धासे युक्त।
भगवन्नाम अखण्ड कीर्तन-जप विश्वास-भाव-संयुक्त॥
ग्वाँर बिनौला, भूसा-चारा भूखी गायोंको दें दान।
श्रद्धायुक्त हृदयसे शुचितम योग्य ब्राह्मणोंको गोदान॥
अन्नकष्ट-पीड़ित मानवको अन्नदान शुचि सह-सत्कार।
दुःख दूर हो दुखीजनोंके करें नित्य ऐसा व्यवहार॥
असहाया विधवा बहनोंको, छात्रोंको दें गुप्त सहाय।
कूएँ बनवायें, जल-कष्ट-निवारणके सब करें उपाय॥
जैन, बौद्ध, सिख, करें सभी निज-निज धर्मानुकूल आचार।
ईसा-भक्त अन्यधर्मी सब करें करुण प्रार्थना-पुकार॥
करें-करायें पुण्य कार्य ये जगह-जगह सब बारम्बार।
सन्मति-शान्ति-सुखोदयके हैं ये मंगल-साधन अविकार॥

अपने-अपने मत तथा विश्वासके अनुसार सभी लोग देवाराधन करें तथा करायें। कल्याणके आधार वेदोंका स्वाध्याय, विविध प्रकारके वैदिक यज्ञ, गायत्री-पुरश्चरण, दुर्गासप्तशतीके विविध अनुष्ठान, रुद्राभिषेक, महामृत्युंजयके जप, श्रीभागवतोक्त नारायणकवच तथा गजेन्द्रमोक्षके पाठ, श्रीमद्भागवतका पावन सप्ताहपाठ-रूपी सत्कर्म, श्रद्धायुक्त हृदयसे वाल्मीकिरामायण तथा रामचरितमानसके पारायण और विश्वास तथा प्रेमके साथ भगवन्नामका अखण्ड संकीर्तन और जप करें। भूखी गौओंको ग्वाँर, बिनौला, भूसा, घास-चारा दें। सुयोग्य पवित्रतम ब्राह्मणोंको श्रद्धायुक्त हृदयसे गोदान करें। अन्नकष्टसे पीड़ित मनुष्योंको पवित्र सत्कारके साथ अन्नदान करें। नित्य ऐसा ही व्यवहार करें, जिससे दुखी प्राणियोंके दुःख दूर हों। असहाय विधवा बहिनों तथा गरीब छात्रोंकी गुप्तरूपसे सहायता करें, कुएँ बनवायें तथा जलकष्ट-निवारणके लिये अन्यान्य सब उपाय भी करें।

जैन, बौद्ध तथा सिख महानुभाव सभी अपने-अपने धर्मके अनुकूल आचरण करें तथा ईसाके भक्त ईसाई एवं अन्य धर्मावलम्बी भी भगवान्‌से करुण प्रार्थना तथा पुकार करें। ये सब पुण्य कार्य सभी लोग जगह-जगह बार-बार करें, करवायें। ये सभी सुबुद्धि, शान्ति तथा सुखकी उत्पत्तिके विकाररहित मंगल-साधन हैं।

विश्वमें सच्ची शान्ति तथा यथार्थ सुख तो तब होगा, जब हमारा जीवन इस प्रकार उदात्त एवं प्रभुप्रेममय बन जायगा—

विश्व चराचरमें है व्यापक नित्य सत्य चित् आत्मा एक।
देखें उसे सभी कालोंमें, सबमें रखकर दृष्टि विवेक॥
सबके सुख-हितको ही समझें नित्य 'स्वार्थ' निज सुखहित-रूप।
'स्व'को रखें न सीमित, उसका करें सदा विस्तार अनूप॥

तन-मन-धनसे कभी न चाहें करें किसीका तनिक अनिष्ट।
त्याग सर्वविध हिंसा सबका करें सदा ही मङ्गल इष्ट॥
अति हितकर शुचि 'त्याग' तथा 'कर्तव्य' करें हम अङ्गीकार।
मोह-ममत्व छोड़कर कर दें त्याग सहज 'धन' पद-अधिकार॥
करें न संग्रह कभी वस्तुएँ, बनें न असत्-अभाव-दरिद्र।
फैशन-व्यसन त्याग, रक्खें जीवनको सादा, शान्त पवित्र॥
दें अभावग्रस्तोंको समुदित सविनय अर्थ-भूमि-सम्मान।
विद्या-बुद्धि-सुसम्मति-आश्रय, जो कुछ हम दे सकें अमान॥
मानव-दानव-पशु-पक्षी-कृमि सबमें नित देखें भगवान।
बरतें निज वेषानुसार, पर करें न कभी अहित-अपमान॥
सभी वस्तुएँ हैं स्वामीकी, हमें किया अधिकार प्रदान।
रखें, सँभालें, करते रहें नियमतः प्रभु सेवामें दान॥
जहाँ अभाव वस्तु जिसका, हैं माँग रहे उसको भगवान्।
प्रभुको प्रभुकी वस्तु नम्र हो, दे दें, करें नहीं अभिमान॥
सेवा करें सदा ही सबकी शुद्ध ईश-सेवाके अर्थ।
सेवाका शुचि भाव बढ़े, प्रभु रखें सदा सेवार्थ समर्थ॥
करें न किसी पवित्र 'धर्म' पर, 'मत' पर तनिक कभी आक्षेप।
कहें-करें कुछ भी न कभी जिससे हो पर-मनमें विक्षेप॥
कर सकते हैं न्याय अर्थ-अधिकार सुरक्षा-हेतु प्रयास।
पर वह वैध शास्त्रसम्मत हो, रखकर ईश्वरपर विश्वास॥
कभी न लें आश्रय अधर्मका, कभी न करें सत्यका त्याग।
तन-धन जायँ, न जाये धर्म, सत्य, प्रभुपर श्रद्धा-अनुराग॥
जीवनका उद्देश्य एक हो पावन प्रभु-पद-प्रीति अनन्य।
प्रभु-पूजाकी सामग्री बन कार्य, विचार, वस्तु हो धन्य॥

सारे जड़-चेतन विश्वमें एक चेतन आत्मा नित्य सत्यरूपमें विराजित है। हम सभी समय तथा सभीमें विवेक-दृष्टि रखकर उसे देखें। सभीके सुख तथा हितको ही हम अपना सुख-हितरूप 'स्वार्थ' समझें, अपने 'स्व' को सीमित (छोटे दायरेमें) न रखें। उसका सदा ही अनुपम विस्तार करते रहें। प्राणिमात्रका 'स्व' ही हमारा 'स्व' हो। तन, मन तथा धनसे कभी किसीका भी तनिक-सा भी अनिष्ट न चाहें, न करें, सब प्रकारकी हिंसाका त्याग करके सभीका मंगल तथा इष्टसाधन करें। अत्यन्त हितकारी 'त्याग' और 'कर्तव्य' को ही जीवनमें अपनायें, मोह-ममता छोड़कर 'धन' और 'पद-अधिकार' की कामनाका सहज ही त्याग कर दें। कभी भी वस्तुओंका संग्रह न करें और झूठमूठ ही अपने अभावोंको बढ़ाकर दरिद्र न बनें। सारे फैशनों तथा व्यसनोंका त्याग करके जीवनको सादा, शान्त और पवित्र बनायें। जो अभावसे पीड़ित हैं, उनको हर्षित मनसे विनयपूर्वक मानकी इच्छा त्यागकर धन, जमीन, सम्मान, विद्या, बुद्धि, अच्छी सम्मति, आश्रय—जो कुछ हम दे सकें, उनको दें। मानव, दानव, पशु, पक्षी, कीट सभीमें सदा भगवान्‌को देखें। अपने-अपने वेष (धर्म)-के अनुसार बरतें, पर कभी किसीका भी न अपमान करें, न अहित करें। हमारे पास जो कुछ हैं, वे सभी चीजें हमारे प्रभु भगवान्‌की हैं, हमें तो उन्होंने सँभाल तथा उपयोगका अधिकार दिया है। अतएव उन्हें अपनी न समझकर सुरक्षित रखें, सँभालें और विनयपूर्वक प्रभुकी सेवामें लगाते रहें। जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, भगवान् ही वहाँ वह वस्तु हमसे माँग रहे हैं—ऐसा समझकर विनय-विनम्र होकर प्रभुकी वस्तु प्रभुके अर्पण कर दें। हमने दान किया है—ऐसा कोई अभिमान कभी न करें। प्रभुकी विशुद्ध (निष्काम) सेवाके लिये ही सभीकी सदा सेवा करें। सेवाका फल यही मिले कि सेवाका पवित्र भाव बढ़ता रहे और सेवाके लिये प्रभु हमें सदा समर्थ बनाये रखें। किसी भी पवित्र 'धर्म' और 'मत' पर आक्षेप न करें, ऐसा कुछ भी कभी न कहें, न करें, जिससे दूसरोंके मनमें विक्षेप होता हो। अपने न्याय, अर्थ तथा अधिकारकी भलीभाँति रक्षाके लिये प्रयास कर सकते हैं, पर वह प्रयास विधिसंगत हो—शास्त्रसम्मत हो और प्रभुपर ही विश्वास रखकर किया जाय। हम कभी भी 'अधर्मका आश्रय' न लें और कभी भी 'सत्य' का त्याग न करें। शरीर तथा धन भले ही नष्ट हो जायँ, पर धर्म, सत्य तथा प्रभुमें जो हमारी श्रद्धा तथा प्रीति है, वह कभी न हटे। पावन प्रभुके चरणकमलोंमें प्रेम ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य हो। हमारे तनसे होनेवाले सारे कार्य, मनसे होनेवाले सारे विचार तथा उपयोगमें आनेवाली धन आदि सारी वस्तुएँ प्रभुके पूजनकी सामग्री बनकर धन्य हो जायँ।

मस्तिष्क या हृदय ?

(श्री 'माधव')

मस्तिष्क बड़ा या हृदय—यह आजकी एक कठोर समस्या है। विज्ञान डंकेकी चोटपर यह कह रहा है कि घरके भीतर छिपी रहनेवाली सुकुमार स्त्रियोंको हृदयके गुण भले ही शोभा दें—पुरुषको तो अपनी बुद्धिके बलपर दिग्विजय करना है। यह दिग्विजय पृथ्वीमात्रपर शासनसे ही पूरी न होगी, इसमें तो प्रकृतिके सभी अवयवों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सभीको अपने शासनमें लाना होगा। पृथ्वीकी छातीपर रेल और मोटरें मनुष्यके बुद्धिकौशलकी ध्वजा फहरा रही हैं। अनन्त, विशाल, अथाह समुद्रकी छातीपर सुखसे चलनेवाले जहाज समुद्रको चुनौती देते हुए पूछ रहे हैं—तुम बड़े या मनुष्यकी बुद्धि? तुम अधिक गहरे या हमारा विज्ञान? और हवामें चीलकी तरह उड़नेवाले वायुयान—पवनसे बाजी लगाकर, उसके ऊपर अपनी विजयवैजयन्ती फहराते हुए मखौलकी हँसी हँस रहे हैं। और रेडियो? नारायण, नारायण! इसकी तो एक न पूछिये। आकाशमार्गसे किस द्रुतगतिसे यह विद्युल्लहर संसारके एक छोरको दूसरे छोरसे मिला रही है! पहले 'संसार' की जो परिभाषा थी, उसकी विशालताकी जो कल्पना थी, वह घटकर बहुत छोटी हो रही है। आज 'दूरी' का प्रश्न हल हो गया है और लन्दन तथा कलकत्तेमें बैठा हुआ आदमी इतनी दूरीपर नहीं है, जितना दो पासके ही गाँवोंका आदमी।

बुद्धिकी दौड़ यहींतक नहीं है। मनुष्य मंगल-ग्रहपर भी अपनी सेना भेजनेवाला है! भिन्न-भिन्न नक्षत्र-लोकसे हमारा सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। नित्य नये-नये आविष्कार निकल रहे हैं। क्या पदार्थ-विज्ञान और क्या रसायन-शास्त्र सभीमें हम बड़ी तेजीसे आगे बढ़ रहे हैं। कलका आविष्कार आज बासी हो जाता है। मनुष्यका ज्ञान इस गतिसे बेतहासा सरपट भागा जा रहा है कि बुद्धिकी इस दौड़में बेचारा हृदय संकुचित, धूमिल, आच्छन्न, विषण्ण एक कोनेमें जा छिपा है। परदेके भीतर नारियोंमें या जंगल-कन्दराओं और गुफाओंमें छिपे साधुओंमें वह चुपचाप—डरा हुआ-सा छिपा बैठा है। बाघसे डरी हुई त्रस्त गाय जैसे अपने प्राण बचानेके लिये किसी अज्ञात कोनेमें जा छिपती है, बुद्धिवादसे डरा हुआ हृदय भी उसी प्रकार कहीं जा छिपा है और मनुष्य अपने बुद्धि, विवेक, तर्क, तथ्यातथ्यके ज्ञानके कारण ही तो 'मनुष्य' बना हुआ है, नहीं तो वह 'पशु' ही नहीं कहलाता? **'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः'** का ज्ञान, जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है ही, इसकी अनोखी सूझ केवल मनुष्यको ही तो है। मनुष्य पशुओंसे इसी कारण तो श्रेष्ठ भी है। बेचारा कुत्ता यह क्या जाने कि 'ऐसा' होनेसे 'वैसा' भी होता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन—इन चारमें मनुष्य और कुत्ते-सूअर-गधे समान हैं। मनुष्यको बुद्धि है; कुत्ते-सूअर-गधेको नहीं, इसीलिये मनुष्य इन अज्ञ पशुओंसे बड़ा है! परंतु 'बुद्धि' पाकर भी मनुष्य पशुओंसे गया-बीता है। यदि 'गया-बीता' न मानें तो कम-से-कम 'समानता' के पदको मनुष्य कभी अस्वीकार कर नहीं सकता। कुत्ते कच्चे मांसपर टूटते हैं—उनकी जीभमें पानी आ जाता है, ठीक उसी प्रकार सुस्वादिष्ट भोजनपर मनुष्यका घोर आकर्षण है। मांसाहारी मनुष्यका मांसके प्रति जो प्रबल आकर्षण है, वह कुत्तेके भीतर मांसके लिये छिपे हुए आकर्षणसे किस अंशमें भिन्न है—यह समझना बहुत कठिन नहीं है। पड़ोसके 'कुकुर भाई' को देखकर कुत्ते भौंकने लगते हैं, हम भी अपने पड़ोसीकी सम्पन्नावस्थासे जलते-कुढ़ते हैं। कहना तो नहीं चाहिये, परंतु जब तुलना हो चली है तो एक और बातमें मनुष्यके बुद्धिबलका कौशल देखिये। मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् प्राणी (rational animal) मानता है, परंतु जननेन्द्रियजन्य सुख-भोगमें वह पशुओंसे भी गया-बीता है। पशुओंमें मिलनेका एक मौसम है—एक समय है। वहाँ गर्भवतीपर बलात्कार नहीं है। वहाँ इतनी बेवफाई नहीं है! और मनुष्य? हरि! हरि! इस सम्बन्धमें मनुष्य तो ऐसा गिरा हुआ है कि वह अपने कनिष्ठ भाई कुत्ते, गधे और

सूअरके सामने कभी सिर ऊँचा कर नहीं सकता। कहते हैं, पशु विषयान्ध होनेपर अपनी माँ-बहनको नहीं पहचानते, परंतु हृदयपर हाथ रखकर, ईश्वरकी साक्षी देकर क्या कोई भी मनुष्य है जो कह सके कि विषयान्ध होनेपर वह अपनी माँ-बहनको पहचानता है? अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके सिवा संसारकी सभी स्त्रियाँ माँ और बहनें नहीं तो क्या हैं? उनपर यदि हमारी पापपूर्ण दृष्टि गयी तो हम अपनी बुद्धिमत्ताकी शेखी भले ही बघारें, पर हम कुत्ते-सूअरसे बड़े किस दृष्टिसे हुए? जिह्वा और जननेन्द्रिय दोनोंके संयममें—जिसके लिये प्रभुने मनुष्यको अन्य 'पशुओं' की अपेक्षा एक अधिक वस्तु—बुद्धि देकर पक्षपात किया था—मनुष्य इस पक्षपातसे लाभ उठाकर उन पशुओंसे भी नीचे गिर गया!!!

हाँ, हम पशुओंसे एक दिशामें अवश्य उत्तम हैं—उनकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हैं। पशु घर नहीं बनाते—हम इमारतें खड़ीकर बिजलीके पंखे और खसकी टट्टियोंमें मुलायम गद्देपर सोते हैं। हम अच्छे-अच्छे सुस्वादिष्ट नाना प्रकारके व्यंजन पाते हैं—बेचारे पशु कहाँसे पायें? हम सुन्दर, सुकोमल वस्त्रों-अलंकारोंसे अपनी इस कायाको (हाड़-मांसकी इस कायाके लिये इतना सब, मनुष्यके बुद्धि-कौशलका कितना बढ़िया इजहार है?) सजाते हैं। इत्र और फुलेल लगाते हैं। सिरमें क्यारियाँ काढ़ते हैं। उपन्यास, नाटक, कथा लिखते-पढ़ते हैं। सिनेमा देखते हैं। बीमार पड़नेपर चटसे डॉक्टर बुलवाते हैं और विज्ञानके प्रसादसे प्राप्त औषध-अमृतसे अपने प्राणोंको सींचते हैं। पशुओंकी क्या हिमाकत कि इस सुखकी कल्पना भी करें? इन बातोंमें मनुष्य अलबत्ता पशुओंसे अपनेको श्रेष्ठ माने परंतु हृदयसे पूछे तो उसे पता चलेगा कि 'बुद्धि' जैसी वस्तु पाकर विषयोंमें अपनी सारी शक्ति, संयमको खोना कहाँतक बुद्धिमानी है! और, यदि इन मूक, निरीह पशुओंको हमारी तरह बोलकर अपने भावोंको प्रकट करनेकी शक्ति होती तो क्या वे अपनी असहायावस्थापर दुःख प्रकट नहीं करते और मनुष्यके इस सुख-सम्भोगके विरुद्ध विप्लव या क्रान्ति खड़ी नहीं कर देते? प्रभुके दिये हुए 'दान' का हमने कितना अधिक दुरुपयोग किया? तो क्या मनुष्य वास्तवमें पशुओंसे श्रेष्ठ है? बात विचारणीय है।

सड़े मांसके टुकड़ेपर जिस प्रकार गिद्ध-सियार कौए-कुत्ते झपटते हैं और आपसमें काँव-कीच करते हैं, उसी प्रकार एक राष्ट्र अपनी राज्यसत्ताको बढ़ानेके मदमें चूर दूसरे राष्ट्रको निगल जानेके लिये नित्य नयी-नयी तरकीबें निकालता है। युद्धके लिये नये-नये साधन, जो शीघ्र-से-शीघ्र अधिक-से-अधिक प्राणोंको मौतके मुखमें ढकेल सकें, तैयार हो रहे हैं। प्लेग और हैजेके कीटाणु फैलाकर, विषैली गैसोंसे—जिस प्रकार भी हो प्राणहरणकी प्रक्रियामें नित्य नये-नये अनुसन्धान हो रहे हैं। जंगी जहाजों और फौजोंकी परेड होती है और अपने सैन्यबलकी सुसंगठित नीतिपर हमें गर्व होता है! यह पाशविक—राक्षसी संगठन मनुष्यकी बुद्धिका इश्तहार है! अनुमानसे यही ठहरता है कि भावी लड़ाइयाँ अब पृथ्वीपर न होकर आसमानमें ही होंगी! उसके द्वारा संहारकार्यमें बड़ी सुगमता रहेगी। मनुष्य बुद्धिमान् जो ठहरा!

अजायबघरों और चिड़ियाघरोंमें हमने बाघ-सिंह-चीते-गैंडे आदि विकराल पशुओंको अपने बुद्धिबलसे बन्द कर रखा है। सरकसोंमें हम बाघ-बकरीको एक घाटका पानी पिलाते देखते हैं। पशुओं-पक्षियोंको हम मनमाना नाच नचाते हैं, परंतु क्या हमारे ऊपर—मनुष्यके ऊपर कोई और अधिक विवेकशील जाति होती तो हमें भी ऐसे ही पिंजड़ोंमें बन्द रखकर अपने इशारेपर नहीं नचाती? पशुओंने भगवान्‌के नियमोंकी जितनी अवहेलना नहीं की है, उससे कहीं अधिक हम मनुष्य नामधारी बुद्धिमान् जन्तुओंने की है।

थोड़ी देर शान्तिपूर्वक गम्भीरताके साथ विचार कीजिये। क्या बुद्धि—तर्कशक्तिके कारण मनुष्य वास्तवमें पशुसे बड़ा है? सत्-असत्, भले-बुरेको हम तर्कके द्वारा भले ही समझ लें, परंतु समझकर यदि हमने असत् और बुरेका परित्याग करके सत् और भली वस्तुको ग्रहण नहीं किया, उसके अनुसार अपने अन्तर और बाह्य जीवनका निर्माण नहीं किया तो हम कहनेके लिये अपनेको भले

ही पशुओंसे श्रेष्ठ कह लें, परंतु वस्तुतः हैं नहीं—इसे स्वीकार करनेमें किसीको भी संकोच न होगा।

मनुष्यका 'मनुष्यत्व', उसका श्रेष्ठत्व उसके हृदयके कारण है, न कि मस्तिष्कके कारण। भगवान्‌का निवास हृदयमें है न कि मस्तिष्कमें।

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

मनुष्य कितना भी बुद्धिमान् हो, कितना भी चिन्तनशक्तिसम्पन्न हो, वह भगवान्‌की लीलाओंको बुद्धिसे समझ नहीं सकता। रमन या बोस, न्यूटन या आईंस्टीन सभी यहाँ आकर थक गये हैं। हृदयमें ही भगवान् बसते हैं और इस मन्दिरमें प्रवेश करनेपर ही प्रभुके दर्शन हो सकते हैं। मस्तिष्क अहंकार उत्पन्न करता है, हृदय विनय और नम्रता सिखलाता है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं सेठ हूँ—ये मस्तिष्कके उपद्रव हैं। इसके स्थानमें हृदय कहता है—मानवमात्र, प्राणिमात्रमें प्रभुका निवास है, सर्वत्र उसीका जलवा है, वही एक घट-घटमें बैठा है—फिर यह भेद कैसा? दीन-दरिद्र अपाहिजको देखकर मस्तिष्क कहता है—ये पृथ्वीके भार हैं, इन्होंने कोई बहुत बुरा कर्म किया होगा, जिसका फल भोग रहे हैं परंतु हृदय कहता है, नहीं, ऐसा नहीं; ये हमारे प्रेम, दया, सहानुभूति और सेवाके पात्र हैं—इस वेशमें स्वयं नारायण पधारे हैं। मस्तिष्कको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह अपनी विजयके मार्गमें किसी भी संहारको बहुत छोटा समझे, परंतु वही मस्तिष्क जब हृदयके रसमें सराबोर कर दिया जाता है तो भगवद्दर्शनकी बात सोचता है।

हृदयका मुख्य आहार क्या है? श्रद्धा और विश्वास। श्रद्धा ही भवानी हैं, और विश्वास ही शंकर हैं। श्रद्धा और विश्वासके सहारे ही, भवानी और शंकरके अनुग्रहप्रसादसे ही अपनी हृदय-गुफामें छिपे हुए नारायणका हम दर्शन कर सकते हैं। यही **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** की सच्ची उपासना है। बुद्धिको आत्मविषया, आत्मरति प्राप्त करनेवाली बनानेकी यह दैवी कला है। 'हृदयमें जाओ' यही सभी संतोंकी वाणी—उपदेशका सारतत्त्व है। हृदयका कपाट खोलकर 'हृदयेश्वर' से मिलो, यही भक्तोंकी पुकार है। इस सम्बन्धमें मौलाना रूमीके ये वचन भूलते नहीं—

'श्रद्धा और ध्यानके साथ अपने हृदयका अनुशीलन करो। भगवान्‌के रहस्योंको जाननेका किसी भी धर्ममें इससे बढ़कर कोई मार्ग है ही नहीं। अपने हृदयके पवित्र शास्त्रको पढ़ो—प्रभुकी सनातन दिव्य वाणी केवल वहीं सुननेको मिलती है।'

बुद्धिको यदि भगवान्‌के अनुसन्धानमें न लगा दिया जाय तो वह शैतानका घर बन जाती है और भिन्न-भिन्न प्रकारके उपद्रवोंकी विधाता बन बैठती है, परंतु बुद्धिको भगवान्‌के मार्गमें प्रवृत्त करनेका एकमात्र उपाय यही है कि उसे नित्य हृदयके रस-सरोवरमें नहलाया जाय! हृदयका रस पाकर बुद्धिको पोषण—वास्तविक 'पुष्टि' प्राप्त होगी। रामकृष्णके स्पर्शमें आकर विवेकानन्दकी जो स्थिति हो गयी, वही स्थिति बुद्धिकी हृदयके स्पर्शमें आनेपर होती है। इस विषयका इससे सुन्दर दृष्टान्त पाना कठिन है।

हृदयके रसमें डूबी हुई बुद्धि जब प्रभुके चरणोंमें पहुँचती है तो वहाँ वह सदाके लिये स्थिर होकर चरणोंसे झरते हुए मकरन्दका पान करने लगती है। उपनिषदोंमें हमारे ऋषियोंने ऐसे ही मकरन्दपानका वर्णन किया है और इसीलिये अनादिकालसे उपनिषदोंसे हमारी आसक्ति बनी आयी है। कोरी बुद्धिसे आजतक न कभी समाधान हुआ, न कभी होगा। आजका बुद्धिवाद किसी भी प्रश्नको सुलझानेमें एक नयी उलझन खड़ी कर रहा है और इस प्रकार उलझनोंकी नयी शृंखला बनती जा रही है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि बुद्धि और हृदयमें समझौता हुए बिना ऐहिक और पारलौकिक हमारा कोई भी काम बन नहीं सकता। इनमें परस्पर स्वभावगत विरोध भी नहीं है। विरोध तो हमने इन्हें विच्छिन्न करके उपस्थित कर रखा है। इन दोनोंका प्रणय-परिणय हो जानेपर ही जीवनका सौन्दर्य खिलता है! मस्तिष्क पुरुष है और हृदय है नारी। स्वतन्त्र रहकर दोनों ही मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। मस्तिष्कका चिन्तन हृदयके संवेदनमें एकाकार होकर जब बाहर प्रकट होता है, तभी वह हमारे समग्र जीवनको स्पर्शकर आन्दोलित

करता रहता है। उपनिषदोंमें यदि कोरे बौद्धिक व्यायामका ही सामान होता तो युगोंसे हमारा इसका इतना गहरा सम्बन्ध कैसे ठहरता? सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिकके कोरे पारिभाषिक शब्दों और व्याख्याओंसे मानवका जी कब भरा है? प्रकृति, पुरुष, जीव, ब्रह्म आदिके सम्बन्धको बतलाते हुए हमारे ऋषियोंने आत्मानुभूत आर्षवाणीमें जो कुछ कहा, वह केवल हमारे मस्तिष्कको उभारकर ही रह जाता और उसमें हमारा हृदय न रमता तो आज बार-बार हम उपनिषदोंकी ओर क्यों लौटते? आत्मा और परमात्माके मिलनकी तल्लीनताका वर्णन करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद्के ये वचन प्राणोंका कितनी गहराईमें स्पर्श करते हैं!—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम्।

(४।३।२१)

जिस प्रकार पुरुष पत्नीके आलिंगनमें बँधकर बाहरकी सारी सुध-बुध खो बैठता है, उसी प्रकार आत्मा परमात्माके आलिंगनपाशमें बँधकर समस्त बाह्य-चेतनाको गँवा बैठता है। इसी प्रकार '**शरवत्तन्मयो भवेत्**' '**तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति**' आदि वाक्योंसे एक ओर जहाँ हमारी आत्मविषया बुद्धि जाग्रत् होती है, वहीं दूसरी ओर हमारे हृदयको भी अमर रस प्राप्त होता है।

सभी संतों और भक्तोंकी वाणीमें जो कुछ भी मिठास है, उसका मूल कारण यही है कि उनके भीतर मस्तिष्क और हृदयका परिणय हो चुका था और दोनोंके मिलनसे प्राप्त जो आनन्द उन्होंने दयापरवश होकर लुटाया, वह संसारके सभी प्राणियोंके लिये अमृत ही हुआ। उस गंगामें गोता लगाकर असंख्य प्राणियोंका कल्याण हुआ और अनन्तकालतक होता रहेगा। हृदयको मस्तिष्कसे प्रकाश और मस्तिष्कको हृदयसे रस प्राप्त होता है। हृदय श्रद्धा और मस्तिष्क विश्वास उत्पन्न करता है। हृदय और मस्तिष्ककी परिपूर्ण एकतामें ही मानवजीवनकी चरम सिद्धि है; क्योंकि तभी श्रद्धा-विश्वासके रूपमें भवानी-शंकरके दर्शन होते हैं और तभी स्वान्तस्थ हरिका साक्षात्कार होता है—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

विश्वासका फल

एक लड़की थी। एक दिन उसने एक पण्डितजीको कथा कहते हुए सुना कि 'भगवान्का एक नाम लेनेसे मनुष्य दुस्तर भवसागरसे पार हो जाते हैं।' उसे इन वचनोंपर दृढ़ विश्वास हो गया।

एक दिन वह यमुनाके उस पार दही बेचने गयी। वहाँसे लौटते समय देर हो गयी। इसलिये माँझीने उसे पार नहीं उतारा।

इसी समय लड़कीके मनमें आया कि जब एक नामसे दुस्तर भवसागरसे पार हुआ जाता है, तब यमुनाको पार करना क्या मुश्किल है। बस, वह विश्वासके साथ 'राधेकृष्ण-राधेकृष्ण' करती हुई यमुनाजीमें उतर गयी। उसने देखा कि उसकी साड़ी भी नहीं भीग रही है और वह चली जा रही है। तब तो और स्त्रियाँ भी उसीके साथ 'राधेकृष्ण-राधेकृष्ण' कहकर पार आ गयीं।

जब कथावाचक पण्डितजीको इस बातका पता लगा, तब वे लड़कीके पास आये और कहने लगे— 'क्या तुम मुझको भी इसी तरह पार कर सकती हो?' 'हाँ' लड़कीने कहा।

वे उसके साथ आये। यमुनामें उतरे, पर भीगनेके डरसे कपड़े सिकोड़ने लगे तथा डूबनेके भयसे आगे बढ़नेसे रुकने लगे। लड़कीने यह देखकर कहा—'महाराज! कपड़े सिकोड़ोगे या पार जाओगे?' पण्डितजीको विश्वास नहीं हुआ। इससे वे पार तो नहीं जा सके, पर उनको झलक-सी पड़ी कि दो सुन्दर हाथ आगे-आगे जा रहे हैं और वह उनके पीछे-पीछे चली जा रही है।

साधकोंके प्रति—

[असत्—शरीरादिसे सम्बन्ध नहीं है]

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

साधन करनेवालोंके मनमें एक बात ऐसे गम्भीररूपसे बैठी हुई है, जो आध्यात्मिक लाभमें बड़ी बाधा पहुँचाती है। लोगोंने यह धारणा बना ली है कि 'हम बातें सुनते तो हैं, पर वे हमारे काममें नहीं आतीं।' यह धारणा महान् बाधक है। आप इसपर भलीभाँति ध्यान दें। जिसे आप काममें आना मानते हैं, उस असत्से सम्बन्ध बना रहता है। आप असत् (शरीर)-को 'मैं' मानकर और असत्को अपना मानकर उस असत्से तो सम्बन्ध जोड़े रहते हैं और फिर कहते हैं कि सत्संगकी बातें आचरणमें नहीं आतीं।

मान लें, आपके मनमें कोई बुरी फुरना हुई, तो जिस मनमें फुरना होती है, वह मन भी असत् है और वह फुरना भी असत् है; परंतु उस फुरना तथा मनसे सम्बन्ध बनाये रखकर अपना अपने सत्-स्वरूपमें विकार देखते रहते हैं और मानते रहते हैं कि मैं विकारी हूँ। यह मूल भूल है। असत्में विकार स्वाभाविक है, इसलिये उसमें विकार होते ही रहते हैं, पर आप इन मन, बुद्धि आदिके विकारोंको अपने सत्-स्वरूपमें मानते रहते हैं। आप साक्षात् परमात्माके अंश हैं, आपमें कोई विकार नहीं है; पर आपने असत्के साथ 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध मान लिया है अर्थात् नाशवान् शरीरको 'मैं' और विनाशी पदार्थोंको 'मेरा' मान लिया है। इस प्रकार 'असत्' को 'मैं' तथा 'मेरा' माननेसे उसके साथ आपका संग हो गया है।

'असत्' में विकार होते ही हैं, यह कभी निर्विकार रह ही नहीं सकता। पर आप अपनेमें उन विकारोंको मानते हैं और कहते हैं कि सत्संगकी बातें काममें नहीं आतीं। आप जरा सोचिये कि विकार तो आते हैं और जाते हैं, पर आप तो वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। इसलिये आप अपने स्वरूपमें स्थित रहें तथा 'मैं' और 'मेरा' जो माना हुआ है, उसमें स्थित न रहें। इस प्रकार स्वरूपमें स्थित रहनेसे आप **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)—सुख-दुःखमें 'सम' हो जायँगे अर्थात् आप सुख-दुःखमें निर्विकार रहेंगे। जब आप निर्विकार रहेंगे, तब बातें काममें आ जायँगी।

सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कौन होता है? **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'** (गीता १३। २१) जो पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता है। इसलिये उसे ही सुख-दुःखका भोक्ता बनना पड़ता है—ऐसा कहा जाता है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (गीता १३। २०)। प्रकृतिमें स्थित होना क्या है? असत्के साथ मैं और मेरेपनका सम्बन्ध जोड़ना प्रकृतिस्थ होना है तथा मैं और मेरा—यही माया (प्रकृति) है।

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥

(रा०च०मा० ३। १५। २)

इस मायाको पकड़कर लोग कहते हैं कि बात काममें नहीं आती। सम्बन्धको तो आप छोड़ते नहीं और विकारोंसे बचना चाहते हैं। मायाके साथ सम्बन्ध रखते हुए विकारोंसे कैसे बच सकते हैं? किसी प्रकार नहीं बच सकते। इसलिये मनकी वृत्तियोंको आप अपनी मत मानें।

देखिये, 'मैं हूँ'—इसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि आप सत्-स्वरूप हैं। सत्का कभी अभाव नहीं होता और सत्का अभाव न होनेसे उसमें कभी भी कमी नहीं आती। हमारे स्वरूपमें भी कभी कमी नहीं आती। इसलिये हमें चाह नहीं होती। जब अपनेको कुछ चाहिये ही नहीं, तब अपने लिये कुछ भी करना नहीं है। शरीरसे जो करना है, वह सब केवल दूसरोंके हितके लिये ही करना है। इससे सिद्ध हुआ कि मुझे नहीं चाहिये, मेरा कुछ नहीं है और अपने लिये कुछ करना भी नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर कर्मयोग स्वाभाविक होगा।

असत्में स्वाभाविक क्रियाएँ हो रही हैं। उन क्रियाओंके साथ हम मिल जाते हैं और क्रियाओंको

अपनेमें मिला लेते हैं—यह भूल होती है। इसलिये यह विवेक स्पष्टरूपसे सुदृढ़ रहे कि हमारा असत्‌से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, हमें कुछ भी नहीं चाहिये, हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है और यहाँ हमारा कुछ नहीं है। कभी कहीं असत्‌के साथ किंचित् सम्बन्ध दीख भी जाय तो वहाँ थोड़ा ठहरकर विचार करें कि असत्‌के साथ मेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता है? हाँ, पुराने अभ्याससे असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेकी भ्रान्ति हो सकती है, परंतु असत्‌के साथ मेरे सम्बन्ध हैं ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि यह तो जाननेमें आनेवाला है और मैं जाननेवाला हूँ तो 'जाननेमें आनेवाले' से 'जाननेवाला' सर्वथा भिन्न होता है। जाननेमें आनेवाली वस्तु जाननेवाले मुझमें कैसे आ सकती है? जैसे मैं खम्भेको जानता हूँ तो खम्भा मुझमें कभी हो सकता है क्या? इसी तरह मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें जो विकार प्रतीत हो रहे हैं, मैं उन्हें जानता हूँ तो वे मेरेमें कैसे हो सकते हैं?

जिसे 'यह' कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता—यह नियम है। तो फिर 'यह' 'मैं' कैसे होगा? 'यह' तो 'यह' ही रहेगा। '**इदं शरीरम्**' (गीता १३। १)—भगवान्‌ने शरीरको 'इदम्' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर 'यह' है, आपसे न्यारा है। आप इसे जाननेवाले हैं और यह आपके जाननेमें आनेवाला है। आप कभी भी शरीर नहीं हैं। इसलिये शरीरको 'मैं' मानना भूल है। भगवान् कहते हैं—

> **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
> **मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥**
> (गीता १५। ७)

अर्थात् यह जीव मेरा ही अंश है और शरीर प्रकृतिका अंश है। इससे सिद्ध हुआ कि आप परमात्माके अंश हैं और आपका अपना कहलानेवाला यह शरीर प्रकृतिका अंश है, आपका नहीं है। इस शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना भूल है। जितने भी विकार आते हैं, वे सब मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिमें ही आते हैं और ये सभी 'क्षेत्र' (शरीर) कहलाते हैं। स्वयंमें विकार कभी आता ही नहीं। जब आप यह जानते हैं कि विकार आता है और जाता है, तब आने-जानेवाले विकारोंसे आपका सम्बन्ध कैसा? आने-जानेवाले विकार आपमें कैसे आ सकते हैं? बस, यह बात याद रखें। इस बातको पक्का कर लें कि मैं रहनेवाला हूँ और ये विकार आने-जानेवाले हैं। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। आने-जानेवाले विकार मेरेमें नहीं हैं।

यह एक नियम है कि संसारके साथ मिलनेमें संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता। संसारसे अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होगा और परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होगा। इसलिये यदि असत्‌के साथ मिल जायँगे, तो न सत्‌का ज्ञान होगा और न असत्‌का ज्ञान होगा। वास्तवमें संसारसे आपकी भिन्नता है। इसलिये संसारसे भिन्न होनेपर ही सत्‌का ज्ञान हो पायेगा। विकारोंको अपनेमें मानते रहनेसे असत्‌से भिन्नता नहीं होती और असत्‌से भिन्नता न होनेसे स्वरूपका बोध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि असत्‌का ज्ञान होनेसे ही असत्‌की निवृत्ति होकर स्वतः सत्‌में स्थिति हो जाती है।

यदि आपको यह बात न जँचती हो तो कोई हानि नहीं। आपको यदि यह विश्वास हो कि जप आदिके अभ्याससे अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध हो सकता है तो वही कर लें, अवश्य कर लें, मैं मना नहीं करता; परंतु अन्तःकरण शुद्ध करनेकी चेष्टा करनेसे वह उतना शीघ्र शुद्ध नहीं होगा, जितना कि उससे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे होगा। कारण कि शुद्ध करनेकी चेष्टामें आप असत्‌को सत् मानते रहेंगे। आप सत्-स्वरूप हैं। सत्-स्वरूप होकर आपने असत् मन, बुद्धि आदिको अपना मानकर उन्हें सत्ता दे दी अर्थात् उन्हें सत् मान लिया। इस प्रकार असत्‌को सत् मानकर ठीक करना चाहेंगे तो बड़ी देर लगेगी और वह ठीक होगा भी नहीं।

हमें सन्तोंसे एक नयी बात मिली है। वह यह है कि तीनों ही शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) '**इदम्**' हैं अर्थात् अपनेसे न्यारे हैं। इसे जो जानता है, वह है '**क्षेत्रज्ञ**'। क्षेत्रज्ञसे शरीर सर्वथा अलग है; क्योंकि यह जाननेवाला है और स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—ये तीनों ही शरीर जाननेमें आनेवाले हैं। इन तीनों शरीरोंसे

आपका सम्बन्ध नहीं है। आपका सम्बन्ध परमात्मासे है—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** (गीता १३। २)। यदि आप अपना सम्बन्ध शरीर आदिके साथ न मानकर **'माम्'** अर्थात् परमात्माके साथ मानेंगे तो इससे जितना शीघ्र शुद्धि होगी, उतना अपनेमें सद्गुण-सदाचारोंके लानेके प्रयाससे नहीं होगी।

आपका स्वरूप सत् है और आने-जानेवाला नहीं है। शरीर आदि पदार्थ आने-जानेवाले हैं और असत् हैं—**'मात्रास्पर्शाः''''''आगमापायिनः'** (गीता २। १४)। इनके साथ सम्बन्ध मत मानें। अपने स्वरूपमें स्थित रहें; क्योंकि जो भी इन्द्रियों और विषयोंके संस्पर्श हैं, वे सब आने-जानेवाले हैं। इनके साथ सम्बन्ध करनेसे ये **'शीतोष्णसुखदुःखदाः'** हैं, अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। ये दुःखके उत्पत्तिस्थान हैं। इन संयोगजन्य सुखोंमें आप रमण करते हैं, तब असत्का संग हो जाता है। असत्का संग पकड़कर जोर लगाते हैं मन आदिको शुद्ध करनेका और समझते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं, पर बात काबूमें नहीं आती, यही उलझन है, यही असमर्थता है। इससे साधकमें हताशपना आ जाती है कि अब कैसे भगवत्प्राप्ति होगी? इसका उपाय यह है कि अपना स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों है और उसके साथ असत्का सम्बन्ध है ही नहीं। असत्के साथ माने हुए सम्बन्धको आप छोड़ दें और केवल परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध मान लें कि 'मैं परमात्मा हूँ और परमात्मा मेरे हैं।'

आपने असत्को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया—यहीं तो भूल हुई है। असत्को अपना मानकर असत्को शुद्ध करना सम्भव नहीं है। कारण कि सत्ने अपना सम्बन्ध असत्से मानकर असत्को सत्ता दे दी और अब आप असत्को शुद्ध करना चाहते हैं—यह कैसे सम्भव हो सकता है? अर्थात् ममतारूपी मलको साथ रखे रहें तो अन्तःकरण आदि असत्को कैसे शुद्ध बना सकते हैं? इसलिये पहले इन असत् मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिसे अपना सम्बन्ध छोड़ दें और आपका सम्बन्ध केवल भगवान्से है—इस बातको दृढ़तासे मान लें तो ये स्वतः शुद्ध हो जायँगे।

जैसे, जब बालक छोटा रहता है, तब वह अपनी माँकी गोदमें ही रहना चाहता है। यदि उसे माँकी गोदसे नीचे उतार दिया जाय तो वह रोने लगता है। इसी तरह आप असत्में जाते हैं तो रोते क्यों नहीं? रोइये कि हम कहाँ आ पड़े? हम तो भगवान्की गोदमें ही रहेंगे। सत्का आश्रय रहे, भगवान्के साथ सम्बन्ध रहे तब तो ठीक है और असत्के साथ सम्बन्ध होते ही रोने लग जाइये तो भगवान्को आपका माना हुआ असत्का सम्बन्ध मिटाकर आपको अपने साथ रखना पड़ेगा, भगवान् माँसे भी बहुत अधिक दयालु हैं। उनसे आपका यह परमात्मविषयक दुःख सहन नहीं हो सकता है।

नारायण! नारायण! नारायण!

आवरणचित्र-परिचय

[कन्हैयाकी एक मनोरम झाँकी]

नैननि निरखि हरि कौ रूप।
चित्त दै मुख चितै, माई! कमल ऐन अनूप॥
कुटिल केस सुदेस अलिगन, नैन सरद सरोज।
मकर कुंडल किरन की छबि दुरत फिरत मनोज॥
अरुन अधर, कपोल, नासा, सुभग ईषद हास।
दसन दामिनि, लजत नव ससि, भ्रकुटि मदन बिलास॥
अंग अंग अनंग जीते, रुचिर उर बनमाल।
सूर सोभा हदै पूरन देत सुख गोपाल॥

[श्रीसूरदासजी]

कलियुगी जीवोंके परम कल्याणका साधन क्या है ?

(श्रीबरजोरसिंहजी)

एक बार भगवान् श्रीविष्णु एवं देवताओंके परम पुण्यमय क्षेत्र नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियोंने भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे सहस्र वर्षोंमें पूरे होनेवाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया। एक दिन उन लोगोंने प्रातःकाल अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर सूतजीका पूजन किया और उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाकर बड़े आदरसे यह प्रश्न किया—

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि॥
(श्रीमद्भा० १।१।९)

आयुष्मन्! आप कृपा करके यह बतलाइये कि उन सब शास्त्रों, पुराणों और गुरुजनोंके उपदेशोंमें कलियुगी जीवोंके परम कल्याणका सहज साधन आपने क्या निश्चय किया है? यह बात सुनकर सूतजी बहुत ही आनन्दित हुए, उन्होंने बहुत ही प्रसन्न होकर सौम्य भावसे इसका उत्तर देते हुए कहा—ऋषियो! सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिये यह आपलोगोंने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया है। जो गृहस्थ घरके काम-धन्धोंमें उलझे हुए हैं, अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनके पास कहने, सुनने एवं सोचने-करनेके लिये हजारों बातें रहती हैं। उनकी सारी उम्र यों ही बीत जाती है। उनकी रात नींद या स्त्री-प्रसंगसे कटती है और उनका दिन धनकी हाय-हाय या कुटुम्बियोंके भरण-पोषणमें समाप्त हो जाता है। संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर पुत्र, स्त्री आदि असत् हैं, परंतु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल हो जाता है, रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास बनते देखकर भी चेतता नहीं है। इसलिये ऋषियो! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता हो, तो उसे सर्वात्मा भगवान्‌की ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के ध्यान, चिन्तन और मननसे ही आत्माकी शुद्धि होती है और दूसरे किसी उपायसे सम्भव नहीं है। मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो और भक्ति भी ऐसी हो कि जिसमें किसी भी तरहकी कामना न हो, ऐसी भक्ति होनेसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माको पाकर जीवन धन्य हो जाता है। सूतजी आगे कहते हैं कि धर्मका फल है मोक्ष, अर्थको पाना ही जीवनकी सार्थकता नहीं है। अर्थ तो केवल धर्ममें सहायक ही हो सकता है। अर्थ भोग-विलासके लिये नहीं है। जीवनका फल तत्त्वजिज्ञासा है, कर्म करके स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है। इसीलिये पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे महत्सेवा और महत्सेवासे भागवत-कथा-श्रवण करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, श्रवण-इच्छासे श्रद्धाभावका उदय होने लगता है और श्रद्धासे भागवत-कथामें गहरी रुचि उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप भगवान् कथा सुननेवालोंके हृदयोंमें विराजमान हो जाते हैं और वे अपने भक्तोंकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं और वासनाओंके नष्ट होते ही भगवान् कृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। रजोगुण, तमोगुणके भाव काम-लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त निर्मल होकर सतोगुणी हो जाता है। इस प्रकारकी प्रेमा-भक्तिसे संसारकी आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदयमें आनन्द उमड़ पड़ता है और भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव होने लगता है। भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयके सारे सन्देह मिट जाते हैं, कर्म-बन्धन क्षीण होने लगता है। इसीलिये सारे बुद्धिमान् लोग भगवान्‌की भक्ति किया करते हैं। इसके अलावा जो लोग लोक या परलोककी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखते हैं या इसके साथ-ही-साथ जो योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानी हैं, उनके लिये भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे श्रीभगवान्‌के नामोंका प्रेमसे कीर्तन करें; क्योंकि तपस्या श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही की जाती है। श्रीकृष्णके लिये ही धर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है। सब गतियाँ श्रीकृष्णमें ही समा जाती हैं। इसीलिये योगी लोग दृश्य दृष्टिसे भगवान्‌के उस रूपका दर्शन करते हैं, जिसमें उनके हजारों मुख, हजारों पैर, जाँघें, भुजाएँ, सिर, कान और आँखें हैं। हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणोंसे उल्लसित हैं। यही विराट् रूप भगवान्‌ने अर्जुनको भी दिखाया था।

जब अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग अर्जुनके ऊपर कर दिया था, तब अर्जुनने श्रीकृष्णभगवान्‌से प्रार्थना की

थी, जो इस प्रकार थी—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयंकर।
त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः॥
(श्रीमद्भा० १।७।२२)

श्रीकृष्ण! तुम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हो। तुम्हारी शक्ति अनन्त है। तुम्ही भक्तोंको अभय देनेवाले हो, जो संसारकी धधकती हुई आगमें जल रहे हैं, उन जीवोंको उससे उबारनेवाले एकमात्र तुम्हीं हो, यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ होता है, उसके निवारणका कोई उपाय भी नहीं होता, फिर भी ब्रह्मास्त्र-जैसा अमोघ अस्त्र भी भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने आकर शान्त हो जाता है तो उनकी शरणमें रहनेसे हमारा कलियुग क्या बिगाड़ सकता है! पर सावधानी हमें यह रखनी पड़ेगी कि कलियुगका जहाँ-जहाँपर वास है, वहाँ-वहाँ हम न जायँ। कलियुगने राजा परीक्षित्से अपने रहनेके लिये पाँच स्थान माँगे थे तथा राजा परीक्षित्ने इन पाँच स्थानोंमें ही रहनेकी आज्ञा दी थी। वे स्थान थे—जहाँपर जुआ हो रहा हो, दूसरा जहाँपर मद्यपान किया जा रहा हो, तीसरा स्थान जहाँपर वेश्याएँ रहती हों, चौथा स्थान था जहाँपर हिंसा की जा रही हो या मांस बिक रहा हो और पाँचवाँ स्थान था सुवर्ण (धन), अधर्मसे कमाये हुए धनको वर्जित बताया गया है। इन पाँचों स्थानोंपर जाकर उनका उपभोग करनेसे लोभ, झूठ, चोरी, दुष्टता, स्वधर्मत्याग, दरिद्रता, कपट, कलह, दम्भ आदि पापोंकी वृद्धि होती है। आत्मकल्याणकामी जीवात्माको इन पाँचों स्थानोंका सेवन नहीं करना चाहिये, न वहाँ जाना चाहिये। यदि हम कलियुगके निवास-स्थानोंपर नहीं जायँगे तो कलियुग हमें कभी नहीं सतायेगा। जीवका कल्याण तभी है, जब वह अन्तर्मनसे भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे। तभी वह अपनी जीवन-यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न कर सकता है। इस घोर कलियुगमें हम धर्ममार्ग, सत्यमार्ग, मानवमार्गपर अपनी यात्रा तय करेंगे, तभी हमारे ऊपर परमात्माकी कृपा बनी रहेगी। भगवान् सदैव सद्गुणीकी रक्षा करते रहे हैं और आगे भी करेंगे। गीतामें भगवान् कहते हैं कि अर्जुन जहाँपर धर्म रहता है, वहींपर मैं भी रहता हूँ और जहाँपर मैं रहता हूँ, वहींपर विजय-पताका लहराया करती है, अन्य दूसरी जगह नहीं। इसलिये मेरी शरणमें आ जाओ, फिर तुम्हें किसी तरहकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

श्रीप्रेमरामायण महाकाव्यमें सेवाधर्म

(श्रीसुरेन्द्रकुमारजी रामायणी, एम०ए०, एम०एड०, साहित्यरत्न)

पंचरसाचार्य स्वामी श्रीरामहर्षणदासजीप्रणीत श्रीप्रेम-रामायण महाकाव्य मैथिल सख्यरस-भक्तिका अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें मिथिलामहाराज श्रीजनकके ज्येष्ठ पुत्र युवराज श्रीलक्ष्मीनिधि एवं उनकी प्राणप्रिया अर्धांगिनी श्रीसिद्धिकुँवरिका जीवन-चरित्र विस्तृत रूपमें वर्णित है। इस महाकाव्यके द्वितीयकाण्ड साकेतकाण्डमें श्रीलक्ष्मीनिधि अपनी अनुजा जनकनन्दिनी जानकीजीको अयोध्यासे विदा कराकर मिथिला लानेहेतु वहाँ जाते हैं।

अपने अयोध्या-प्रवासके समय श्रीलक्ष्मीनिधि अपनी अध्यात्मविषयक जिज्ञासाकी शान्तिहेतु गुरुदेव ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीसे श्रीरामजी एवं श्रीसीताजीके तात्त्विक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं। पुनः अपने तीनों भाम (बहनोइयों)-से उनकी श्रीरामजीके प्रति निष्ठा एवं उपासनाभावविषयक जिज्ञासा ज्ञापित करते हैं। श्रीभरत अपना सिद्धान्त—श्रीरामजीकी प्रपत्ति (शरणागति) निरूपित करते हैं।

सेवाधर्मके परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीलक्ष्मी-निधिका संवाद श्रीप्रेमरामायणमें विशेषरूपसे वर्णित है। तदनुसार श्रीलक्ष्मणसे जब लक्ष्मीनिधि भक्तिसिद्धान्तविषयक जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं तो श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं—

सतचित आनँद जीव स्वरूपा। राम अंश सब भाँति अनूपा॥
भोक्ता राम भोग नित जीवा। या महँ संशय नेकु न कीवा॥
सहज शेष रघुनाथ केरा। जीव अहै यह निश्चय मेरा॥
सब समर्थ शेषी सियरामा। आनँद सिंधु स्वतंत्र ललामा॥
जीव स्वरूप सहज परतंत्रा। कुँवर गुनहु यह मंत्रन मंत्रा॥
सर्वभाव रघुनायक शरणा। ताते गहै जीव प्रभु वरणा॥
राम केर जिव रामहिं भोगा। रामहिं रक्षै वेद नियोगा॥
ताते रामहिं के अनुकूला। जीव करै कैंकर्य अतूला॥
सकल विधी कैंकर्य महँ, नित्य निपुण अति होय।
सहज स्वरूप सुजीव को कुँअर सुनहु सत जोय॥

तात्पर्य यह है कि जीव श्रीरामका स्वाभाविक रूपसे

शेष (अंश), भोग्य एवं रक्ष्य है एवं श्रीराम ही जीवके शेषी, भोक्ता एवं रक्षक हैं। अतः जीव प्रभु श्रीरामका सहज शेषभूत दास (सेवक) है। उस जीवका सहज स्वरूप प्रभु श्रीरामके परतन्त्र एवं उनके अनुकूल होनेसे उनका अतुलनीय कैंकर्य (सेवा) करनेमें उसे सदैव संलग्न रहना चाहिये। यह वेदवाक्य है कि जीव रामका ही है, रामका ही भोग्य है तथा राम ही उसके रक्षक हैं। अतः उसे सर्वभावेन श्रीरामकी शरणागति ग्रहण करनी चाहिये। अन्यथा उसके सहज स्वरूपकी हानि होती है। वस्तुतः यह जीव सम्पूर्ण प्रकारसे प्रभु-कैंकर्यमें सदा ही अत्यन्त निपुण बना हुआ है। अतः उसे अपने इस सहज स्वरूपकी रक्षामें सदा तत्पर रहना चाहिये। जीवके सहज स्वरूपका बोध करानेके पश्चात् श्रीलक्ष्मण प्रभु श्रीरामके कैंकर्य (सेवा)-की विधि निरूपित करते हैं कि जीवको कर्मफलकी आसक्ति एवं कर्तापनके भावका पूर्णतया परित्याग कर देना चाहिये अर्थात् निष्काम भावसे प्रभुकी सुन्दर सेवामें दत्तचित्त हो जाना चाहिये। जीव सब प्रकारसे अहंभावका परित्याग करे अर्थात् मैं और मेरेको पूर्णरूपसे छोड़ दे। सब कुछ प्रभुका ही है, ऐसा सुखद भाव हृदयमें सन्निहितकर प्रभुकी सेवामें सदा संलग्न रहे। अपने स्वामी श्रीरामके लिये सदैव उनके अनुकूल रहकर मंगलोंके मूल स्वार्थरहित कैंकर्यको ही प्रसन्नतापूर्वक करता रहे।

संसारके जितने भी मायिक सम्बन्ध पुत्रकलत्रादि हैं, उन सबका पूर्णरूपसे परित्यागकर एवं अनुरागसे परिपूर्ण होकर प्रभुकी सेवामें सदा दत्तचित्त रहे। ऐसे उदात्त भावमें दृढ़ रहकर जब दास सब प्रकारसे अपने ध्येयस्वरूप श्रीरामजीकी आठों प्रहर दिन-रात सेवामें तत्पर रहता है, तब क्षण-प्रतिक्षण प्रभुके प्रति उसका भाव वृद्धिंगत होता जाता है। तब इसी प्रबल इच्छामें लीन होकर वह अपने योग-क्षेमको विस्मृतकर उन्हें प्रभुको समर्पित कर देता है। उसे प्रभुका प्रतिक्षण वियोग उसी प्रकार असह्य हो जाता है, जिस प्रकार जलके अभावमें मछली अत्यन्त व्याकुल होकर छटपटाती रहती है। कभी-कभी तो प्रभुके दारुण विरहमें उसके प्राण भी शरीरका परित्याग करके महान् परमार्थतत्त्वको धारण कर लेते हैं। हे निमिनन्दन कुँवर! जीवका परम पुरुषार्थ प्रभु श्रीरामकी अकथनीय अलौकिक अमोघ कृपाप्राप्तिको ही जानना चाहिये। यही तो वास्तविक सत्य और परम सत्य है।

जिस सेवकने चारों पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी आशाका पूर्णतया परित्याग कर दिया है तथा जिसके मनसे लोकैषणा (मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि)-का भूत भाग गया है, जिसे भवरस विषके समान अप्रिय लगने लगता है, उसी महाभागवतके हृदयमें प्रभु श्रीरामके पादपद्मोंमें प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है। तब प्रभुप्रसादसे उसके हृदयमें यह भाव दृढ़तासे निवास करता है और उसे प्रभुकी सेवामें मनसा, वाचा, कर्मणा हार्दिक रुचि जाग्रत् हो जाती है।

चार पदारथ आशा त्यागी। लोक ईषणा सब विधि भागी॥
विष सम नित भवरस जेहि लागै। प्रभु पद प्रीति हृदय तेहिं जागै॥
तब यह भाव बसै हिय माहीं। प्रभु प्रसाद सेवा रुचि ताहीं॥

श्रीलक्ष्मणजीसे सेवानिष्ठाका श्रवणकर लक्ष्मीनिधिने साश्रुनयन प्रेमप्रफुल्लित मनसे श्रीसुमित्राकुमार लक्ष्मणजीसे कहा कि हे स्वामिन्! मैं सब प्रकारसे दीन-हीन हूँ। करने-करानेवाले अन्तर्यामी प्रभु श्रीराम हैं। श्रीसीताकान्त प्रभु श्रीरामजीकी परमप्रेमपूर्ण परमैकान्तिक सेवा करनेकी इस दासके हृदयमें अत्यधिक अभिलाषा है। अस्तु इसे अच्छी तरहसे अभिज्ञात करके आपश्री अपने हृदयके सुन्दर भावोंको मेरे हृदयमें आपूर्ण कर दें, क्योंकि आपश्रीकी अहैतुकी कृपासे मुझे कुछ दुर्लभ नहीं दिखता है। प्रभु श्रीरामके अनन्य सेवक होनेसे आप सर्वसमर्थ हैं।

श्रीलक्ष्मणकुमारने भी शुभाकांक्षा व्यक्त करते हुए कहा कि हे सीताग्रज! सेवाभावमें जैसी आपकी उत्तम अभिरुचि है, वह आपकी श्रेष्ठ मनोकामना अवश्य ही सदैव पूर्ण होगी।

श्रीलक्ष्मणजीसे सेवाभावके विषयमें इतना सुनकर एक दिन अवसर पाकर श्रीलक्ष्मीनिधिने श्रीशत्रुघ्नकुमारसे अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—

कह्यो कुँवर सुनु रिपुहन लाला। निज सिद्धांत कहहु सुखशाला॥
जेहि तें रीझत रामकुमारा। निज जन जानि करत बहु प्यारा॥

इसपर श्रीशत्रुघ्नजी बोले—

कह रिपुहन सुनु कुँवर प्रिय, मैं सब साधनहीन।
तदपि कृपा रघुवर लही, सो सब सुनहु प्रवीन॥
रामभक्त महिमा बड़ि जानी। भरत शरण मैं गही सुहानी॥
तेहि बल मोहिं सब भ्रातन तेरे। अधिक प्यार प्रभु करत सुहेरे॥

भक्त भजे भज जावैं रामा। जिमि शिशु गर्भ माहिं सुखधामा॥
रामभक्त थापैं जेहि काहीं। उथपैं प्रभु तेहिं कबहुँक नाहीं॥
उथपै भक्त जाहि हिय हेरी। थापन गति नहिं रामहु केरी॥
अघट घटावहिं सुघट बिघाटी। संत महा महिमा बिनु काटी॥
सेवत साधु द्वैत मत भागी। रामरूप दरसै हिय जागी॥
सब बिधि जगत बीज जरि जाई। प्रभु पद प्रेम बढ़ै नित भाई॥
भक्त जनन की वर कृपा, जबहिं जीव यह पाय।
पद परमारथ तब लहै, आनंद सिंधु समाय॥

श्रीशत्रुघ्नकुमार अपना सिद्धान्त बतलाते हुए कहते हैं कि हे परमप्रवीण विदेहकुमार! मैं सब प्रकारसे साधनहीन हूँ, तथापि श्रीरामजीकी असाधारण कृपा मुझ दीनपर इसलिये विशेषरूपसे प्रकट हुई है कि मैंने श्रीरामभक्तकी महामहिमाको समझकर महाभागवत श्रीभरतजीकी सुखप्रद शरण ग्रहण की है। उनकी असीम कृपाके बलसे श्रीरामजी मुझे सब भ्राताओंसे अत्यधिक प्यार करते हुए अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे निहारते रहते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार गर्भस्थ शिशुका उदर-पोषण माँके गर्भमें अपने-आप हो जाता है, उसी प्रकार प्रभुभक्तोंके भजनसे सुखके भण्डार श्रीरघुनन्दनजीका भजन स्वयमेव हो जाता है। अस्तु, प्रभुभक्त जिस किसी भी जीवको प्रतिष्ठाके आसनमें बैठा देता है, उसका प्रभु कभी भी पराभव नहीं होने देते। श्रीरामदासके दास भक्त जिस जीवके प्रति हृदयमें उदासीन हो जाते हैं तो फिर भक्तवत्सल प्रभुमें भी उस जीवका उत्थान करनेकी लेशमात्र इच्छा नहीं होती है। श्रीरामदासानुदास सन्तोंकी इस महान् महिमाको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि विधि-विधानसे जो घटित होनेवाला है, उसे सन्त अघटित एवं अघटितको घटित करनेमें पूर्णतया सक्षम होते हैं।

वस्तुतः श्रीरामकी शरण ग्रहण करनेपर भक्त उनकी ध्येयस्वरूप सुन्दर सेवाको बहुत समयके पश्चात् प्राप्त कर पाता है, जबकि सन्तोंकी शरणागति तुरन्त ही श्रीरामजीकी प्राप्ति करा देती है। श्रीरामजीकी सेवाको सम्प्राप्तकर जीव प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है। सर्वभूतसुहृद् श्रीरामजी तो कभी-कभी किसी जीवको अभिमानी जानकर उसके परमहितके लिये दण्डका विधान भी करते हैं, किंतु सन्तभगवान् अत्यन्त कृपामय और सरस अन्तःकरणसे युक्त होते हैं। वे अपने निजी जनोंके दोषोंको जानकर भी प्रभुसे प्रार्थना कर-करके उसे उनकी कृपादृष्टि एवं परम प्रेमकी प्राप्ति कराते हैं।

सब बिधि जनहित करहिं सुधारा। बनि अक्रोध निज भाव उदारा॥
राम मिलन हित सेवा प्रीती। सेवै संतन मानि प्रतीती॥
प्रभु तें अधिक जनहि जिय जानी। सेवहुँ भरतहिं हौं रससानी॥
तिनकी कृपा सीय रघुराई। करहिं कृपा अतिशय सुखदाई॥
सब बिधि प्रभु कर मोर दुलारा। मानत आपन प्राण अधारा॥
तातें संत जनन सेवकाई। निज सिद्धांत सुनायो गाई॥
सहजहिं सरबस देवन हारा। संत दास पन गुनहु कुमारा॥
वेद पुरान शास्त्र सब गायो। संत संग महिमा अतिचायो॥
सो सब जानहु निमिप्रवर, संत माहिं अति प्रीति।
रामसिया अनुपम कृपा, तुम पर अहैं अमीति॥

श्रीशत्रुघ्नकुमार कहते हैं कि हे सीताग्रज! मैं प्रभु श्रीरामसे भी अधिक उनके भक्तोंकी महिमाको हृदयंगम करके रससिक्त होकर महाभागवत श्रीभरतजीकी सेवामें संलग्न रहता हूँ। उन भक्तश्रेष्ठकी कृपासे ही श्रीसीतारामजी युगलसरकार मुझपर अत्यन्त सुखदायक अपनी असीम कृपाका वर्षण करते रहते हैं। प्रभु श्रीराम तो सब प्रकारसे मेरा दुलार करते हुए मुझे अपने प्राणोंका आधार समझते हैं। इसलिये श्रीरामदास सन्तोंका मनोयोगपूर्ण सेवन ही मेरा निजका सिद्धान्त है, जिसका मैंने आपश्रीके समक्ष संक्षेपमें गान किया है।

हे विदेहकुमार! सन्तोंकी दासता प्रभुको सहज ही अपना सर्वस्व दे डालनेके लिये बाध्य करानेवाली है। ऐसा आप निश्चित रूपसे समझिये।

श्रीशत्रुघ्नकुमारके मुखसे निःसृत सन्त-महिमाको श्रवणकर श्रीविदेहकुमार लक्ष्मीनिधिने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि मैं तो सदा-सर्वदा प्रियतमप्रभु श्रीरामका दासानुदास हूँ। आप सब प्रकारसे मुझपर कृपा करें, जिससे मैं अब अनवरत रूपसे श्रीसीतारामजीका परम प्रेमयुक्त भजन करता रहूँ। इस प्रकार श्रीरामदासानुदास बनकर सेवाव्रती भक्त जब ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत'*** के भावानुसार चराचर जगत्‌के सभी प्राणियोंमें अपने आराध्यदेव श्रीरामका दर्शन करता हुआ उनकी सेवामें तत्पर हो जाता है तो सेवाकी इस कक्षामें पहुँचे हुए निज जनको प्रभु अपना अनन्य भक्त घोषित करते हैं।

सेवा ही सबसे बड़ा धर्म और पूजा है

(श्रीरमेशचन्द्रजी बादल, एम०ए०, बी०एड०, विशारद)

अथर्ववेद (३।२४।५)-में एक मन्त्र है—**'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।'** अर्थात् हे दो हाथोंवाले (मनुष्य)! तू सौ हाथोंवाला बनकर कृषि, व्यापार, उद्योगों, पशुपालन इत्यादिसे प्रचुर धन-ऐश्वर्योंको प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला होकर समाज और राष्ट्रकी उन्नतिके लिये अभावग्रस्त, निर्धन एवं पीड़ितोंकी सहायता कर। इस प्रकार हमारे शास्त्रोंका निर्देश है कि मनुष्यको सदैव दुखी लोगोंके कष्टोंको दूर करनेहेतु तत्पर रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वर विराजमान हैं, इसलिये सबकी सेवा करना ही भगवान्की सेवा है। यजुर्वेदमें भी कहा गया है—**'भूताय त्वा नरातये'** (यजु० १।११) अर्थात् हे मनुष्य! तुम्हें प्राणियोंकी सेवाके लिये पैदा किया गया है, दुःख देनेके लिये नहीं। पीड़ित लोगोंकी सेवा करना, उनको सुख पहुँचाना ही मनुष्यका प्रथम धर्म है। इसी भावनाके अनुसार आचरण करना ही नरसेवा—नारायणसेवा है।

कहा गया है—**'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'** अर्थात् दुखी एवं सन्तप्त प्राणियोंकी पीड़ाका शमन करना ही वास्तविक सेवा है।

प्रायः सभी धर्मोंमें दुखी, पीड़ित, रोगी, असहाय, विकलांग, निर्धन, वृद्धजनोंकी सेवा करना परम कर्तव्य माना गया है। पर्वों और विशेष अवसरोंपर निष्काम भावनासे प्रेरित होकर सेवा करना अथवा सुख पहुँचाना आवश्यक माना जाता है। इसे ही परोपकार, परहित और परसेवा कहा गया है। यह सेवा भी भगवान्की पूजा है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्तकी दो पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिये मरे॥

अर्थात् जिस मनुष्यमें दया, परोपकारकी भावना, ममता, उदारता और सेवा करनेकी इच्छा नहीं है, वह तो साक्षात् पशुके समान है। मनुष्यका यह परम कर्तव्य है कि वह केवल अपने स्वार्थके लिये ही न सोचे, अपितु परहितके लिये तन-मन-धनसे कार्य करे और बदलेमें किसी प्रकारका यश-लाभ और बड़ाई प्राप्त करनेकी न सोचे।

कविश्रेष्ठ सन्त रहीम कहते हैं—***'जो रहीम दीनहिं लखै, दीन बन्धु सम होय।'*** अर्थात् जो मनुष्य निर्धन-दीन असहाय लोगोंकी सहायता करता है, वह तो भगवान्के समान है। भगवान्का एक नाम दीनबन्धु है।

कष्टोंमें पड़े हुए लोगोंकी सेवा करना, उनको सुख पहुँचाना ही धर्म है। आपको भगवान्ने सम्पन्नता प्रदान की है, प्रचुर धन दिया है, सभी प्रकारकी सुविधाओंसे युक्त बनाया है तो फिर दीन-हीन, अनाथ, रोगी, दुखी लोगोंके लिये भी दिल खोलकर सहायता करनी चाहिये। ऐसे बड़े होनेसे क्या लाभ, जैसे कि खजूरका पेड़—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं फल लागे अति दूर॥

खजूरके पेड़से राहगीरको न तो छाया ही मिलती है और न ही फल। हम सभी छायादार और फलदार वृक्षोंके ऋणी रहते हैं। हारे-थके व्यक्ति बरगदकी छायामें विश्राम करते हैं। पशु-पक्षी भी अपना डेरा डालते हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें वृक्षोंमें जल डालना, पूजा करना और उनकी रक्षा करनेको भी सेवा कहा है। सेवाका कोई भी कार्य छोटा नहीं है। प्यासेको पानी पिलाना और भूखे व्यक्तिको भोजन कराना सबसे बड़ी सेवा है। इसीलिये गर्मीके दिनोंमें प्याऊ (पीनेका पानी उपलब्ध करानेहेतु) और भूखसे पीड़ित लोगोंके लिये भण्डारे अथवा सदावर्त खोले जाते हैं। यह परम्परा सभी धर्मोंमें मानी जाती है।

महाराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञके समय कामोंका विभाजन किया जा रहा था। भगवान् श्रीकृष्णने यज्ञमें ब्राह्मणोंके चरण धोने एवं जूठी पत्तलें उठानेका कार्य

सहर्ष किया था। उन्होंने अर्जुनके रथका सारथी बनना भी स्वीकार किया था।

महाराज युधिष्ठिर महाभारतके युद्धमें वेश बदलकर घायल लोगोंकी सेवाके लिये जाते थे। जब उनसे वेश बदलकर जानेका कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि यदि मैं वास्तविक रूपमें होता तो ये पीड़ित लोग अपना कष्ट मुझे नहीं बताते। इसी कारण महाराज युधिष्ठिरको धर्मराजके रूपमें शीर्ष स्थान दिया जाता है।

कहा गया है कि जो अपने-आपको बड़ा मान लेता है, वह सबसे नीचा है। उसकी अधोगति होती है और जो अपने-आपको सबसे नीचा मानता है, उसको भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

एक समय श्रीभरतजीने हनुमान्‌जीसे पूछा कि तुम कौन हो? हनुमान्‌जीने उत्तर दिया कि मैं श्रीरघुनाथजीके दासोंका दास हूँ। हनुमान्‌जी अपने-आपको सुग्रीव, अंगद, जाम्बवन्तका भी दास मानते हैं। हनुमान्‌जीको दासभाव प्रिय है, सखाभाव नहीं। दासका कार्य अपने स्वामीकी सेवा करना ही होता है। भगवान्‌की सेवामें लगे रहनेसे हनुमान्‌जीकी पूजा सभी जगह होती है। छोटी-से-छोटी जगहोंमें हनुमान्‌जीके मन्दिर मिलते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने कहा है कि सेवाके लिये उठनेवाले हाथ प्रार्थना करनेवाले ओठोंसे अधिक पवित्र हैं। लाखों गूँगोंके हृदयमें ईश्वर विराजमान हैं। मैं इन लाखोंकी सेवाद्वारा ही ईश्वरकी पूजा करता हूँ। महात्मा गांधी स्वयं कोढ़ी रोगियोंकी सेवा करते थे।

सरदार वल्लभभाई पटेलकी भी यही धारणा थी कि गरीबोंकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है।

गौतमबुद्धकी वाणी है कि जिसे मेरी सेवा करनी है, वह पीड़ितोंकी सेवा करे।

सेवा के सम्बन्धमें कविवर गोपालदास 'नीरज' की ये पंक्तियाँ बड़ी ही सशक्त हैं—

किसी के जख्म को मरहम दिया है गर तूने।
समझ ले तूने खुदा की बंदगी की है॥

सेवाकी सच्ची भावनासे युक्त व्यक्ति अपने स्वार्थको नहीं देखता। वह अपने हितोंको त्यागकर दूसरोंके हितोंके लिये ही कार्य करता है। बिना किसी लोभ-लालचका विचारकर परहितमें कार्य करना ही सेवा है। इस प्रकार सेवा करना ही धर्म है। लेनेकी इच्छा छोड़कर दूसरोंकी सेवा करना चाहिये। दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपना सुख भी बढ़ता है।

'तजीवनं यत्र परस्य सेवा' (गरुडपुराण-नीतिसारावली) अर्थात् जीवन वही है, जो परसेवारत हो।

अपना भला देखना-करना स्वार्थ है और दूसरोंका भला सोचना परार्थ है। वही व्यक्ति महान् है, जो दूसरोंकी सेवाके लिये आगे रहता है।

जब हम अपने दो हाथ दूसरोंकी सेवा-सहायताके लिये खोलते हैं तो ईश्वर भी हजार हाथोंसे हमारी राह आसान कर देता है।

सेवाका संस्कार बच्चोंको परिवारके वातावरणमें माता-पिताके आचरणको देखकर ही मिल सकता है। परिवारमें वृद्ध माता-पिता, वृद्ध परिजन और असहायोंकी यदि मन-वचन-कर्मसे सेवा की जाती है तो उस परिवारके बच्चोंमें भी सेवाके संस्कार आ जाते हैं।

वृद्धोंकी सेवा, अभिवादन (प्रणाम-चरणस्पर्श) करना हमारी प्राचीन संस्कृति है। सेवा और सम्मान देनेसे वृद्धजनोंके हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त होते हैं। सेवा कभी निष्फल नहीं जाती—यह सत्य परिवारमें सभीको समझना आवश्यक है। **'मातृदेवो भव'**, **'पितृदेवो भव'**की भावनाका परिवारमें सभी सदस्योंद्वारा पालन करना चाहिये, तभी हमारी भावी पीढ़ी सुसंस्कारवान् और सेवाभावी बन सकेगी।

सेवामें आत्मिक सुख-शान्ति और आनन्दका स्रोत निहित है। आइये हम सब ईश्वरसे प्रार्थना करें—

वह शक्ति हमें दो दयानिधे कर्तव्य मार्गपर डट जावें।
पर सेवा पर उपकार में हम निज जीवन सफल बना जावें॥

श्रीरामकथाका एक पावन-प्रसंग—

ज्योति निष्कम्प है

[श्रीलक्ष्मण-सहधर्मिणी देवी उर्मिलाकी साधना]

(आचार्य श्रीरामरंगजी)

'रात्रिके नीरव-प्रगाढ़ अन्धकारमें यह साँय-साँय कैसी, चारों ओर बिजलियाँ-सी चमकाता, एक विशाल पर्वतखण्ड लिये अयोध्याके आकाशसे यह कौन पवन-वेगसे चला जा रहा है?' जपनिरत श्रीभरतकी दृष्टि ज्यों ही उठी, वे अपना धनुष उठाते हुए उठ गये। नन्दिग्रामकी कुटीसे बाहर निकल आये। विचारने लगे कि 'यह शत्रु है कि मित्र है? इसके मनोभाव क्या हैं?' तुरंत ही बुद्धिने निर्णय किया कि 'यह जो कोई भी हो, सर्वप्रथम इसे धरतीपर उतरनेके लिये बाध्य किया जाय। परिचयका संकट समाप्त होनेके पश्चात् जैसा होगा, उसके अनुसार व्यवहार किया जायगा।'

तीव्रगतिसे अयोध्याकी ओर बढ़ते हुए उस प्रकाश-पुंजको देखना, उसके विषयमें विचारना, असमंजसकी स्थितिमें त्वरित निर्णय लेकर श्रीरामानुज भरतने बिना फरका एक बाण अपने धनुषको मण्डलाकार करते हुए छोड़ दिया। ये सभी कृत्य क्षणभरमें उनकी विचार-शक्तिकी प्रबलताने सिद्ध कर डाले।

'हे राम' कहते हुए एक विशाल वानर धरतीपर आ गिरा, किंतु उसने अपने करतलपर रखे हुए शिलाखण्डको धरतीका स्पर्श नहीं करने दिया। श्रीभरत दिव्यजलसे भरा हुआ अपना कमण्डलु लेकर तुरंत उसकी ओर बढ़ चले। उन महावीर कपिके प्रशस्त वक्षपर लहराता हुआ यज्ञोपवीत एवं समुन्नत ललाटपर अपने प्रभु श्रीरामके जैसा तिलक देखकर श्रीभरतने जलके कुछ छींटे उनके मुखपर डाले, थोड़ा जल मुखमें भी डाला। वे कपि 'श्रीराम-श्रीराम' कहते हुए उठ बैठे। कुछ क्षण श्रीभरतके नीलकमलदल-जैसे मुखमण्डलको देखते ही उनके मुखसे निकल पड़ा, 'प्रभो! आप यहाँ? सौमित्रि उठ गये क्या? मुझे विलम्बका दोषी मानकर, दण्डित करनेके लिये ही आपने यह शर-प्रहार किया। प्रभो! औषधियोंको पहचाननेमें समय लगता देखकर, मैं यह सम्पूर्ण भेषजाचल (औषधियोंका पहाड़) लिये चला आ रहा हूँ। मुझे क्षमा करें।'

'देखो वानरवर! मैं नहीं जानता कि आप कौन हैं, किंतु मैं प्रभु श्रीरामका अनुज भरत हूँ।'

'ओह, मेरे प्रभु श्रीरामसे आपकी छवि कितनी मिलती है। मैं भ्रमित तो हो गया, किंतु यह भ्रम मुझे कितना सुन्दर अवसर प्रदान कर रहा है। आप इस अंजनीकुमार हनुमान्का प्रणाम स्वीकार करें।' कहते हुए मारुति श्रीभरतके चरणोंमें लोट गये। उन्होंने मारुतिको अपने हृदयसे लगाते हुए कहा, 'मैं यह तो समझ गया कि तुम मेरे प्रभुके निजी परिकरके अवश्यमेव कोई-न-कोई हो, किंतु इस समय यह विशाल शैलखण्ड लेकर तुम कहाँ जा रहे हो?' कहते हुए श्रीभरतने उन्हें निकट बिठाकर बाण खींचकर, होमधेनुका थोड़ा-सा गोमय लगाकर उन्हें स्वस्थ कर दिया। उसके पश्चात् मारुतिने जानकीजीके हरणसे लेकर समस्त वृत्तान्त संक्षेपमें बताते हुए यह भी बता दिया कि इस समय लक्ष्मण रावणपुत्र इन्द्रजित् मेघनादद्वारा वीरघातिनीके प्रहारसे अचेत पड़े हुए हैं। उनके उपचारके लिये सूर्योदयसे पूर्व उन्हें यह संजीवनी लेकर पहुँचना ही है। भरत उन्हें आश्वस्त करते हुए बोले, 'तुम कोई चिन्ता न करो, अवश्य पहुँच जाओगे, किंतु मेरा आग्रह है कि एक बार परिवारको इस समस्त व्यथा-कथासे परिचित कराते जाओ। चित्रकूटके पश्चात् तुम वह प्रथम और प्रामाणिक व्यक्ति हो जो प्रभुकी सत्य परिस्थितिसे हमें अवगत करा रहे हो।'

श्रीभरत निकट खड़ी रथिकामें मारुतिको बिठाकर, पवन वेगसे उसे उड़ाते हुए राजमहालयकी ओर चल पड़े। राजकीय रथिकाकी घर्घराहट, अश्वोंकी हिनहिनाहटसे

राजद्वारका प्रहरीवर्ग किसी अनहोनीकी आशंकासे सतर्क हो गया। स्वयं शत्रुघ्नलाल अपने धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर उन्हें पीछे रहनेका संकेत करते हुए आगे बढ़ आये। राजद्वारपर अपनी ओर शत्रुघ्नकी प्रश्नसूचक दृष्टि देखकर भरत बोले, 'तुरंत अन्दर चलो' तबतक समस्त परिवार राजमहालयके प्रांगणमें एकत्रित हो चुका था।

'देवी जानकीका हरण लंकेश्वर दशकन्धरने छलपूर्वक कर लिया, वे लंकामें इस समय वन्दिनी अवस्थामें हैं' श्रीभरतके मुखसे यह सुनते ही समग्र परिवारपर जैसे वज्रपात हो गया। अगले क्षण हनुमान् तुरंत बोले, 'उनकी मुक्तिके लिये भयंकर संग्राम हो रहा है। अनेकों प्रमुख-प्रमुख राक्षस-सुभट रणमें सुला दिये गये हैं।' यह सुनकर कुछ संतोष-सा हुआ, किंतु लक्ष्मण इस समय वीरघातिनीके प्रहारसे अचेत पड़े हुए हैं, यह सुनते ही माँ कौसल्याके मुखसे एकाएक निकल पड़ा, 'अरे! मेरा लक्ष्मण गया। हाय, मैं अब उसका मुख कैसे देखूँगी!' श्रीभरत उन्हें सान्त्वना देने लगे तो वे अपने शरीरको रुईकी भाँति धुनते हुए बोलीं।

'भरत! वीरघातिनी उपचारहीन होती है। मुझसे स्वयं तुम्हारे पिता श्रीमहाराजने एक बार कहा था। महाराजा मान्धातापर रावणने उसीका प्रहार किया था। अरे, मेरी उर्मिला लुट गयी रे! कालकी काली दृष्टिने मेरे लालको घेर लिया रे! विदेहराजकी दुहिताएँ अपने भाग्यमें कितने दुःख-संकट-पीड़ाएँ लिखाकर इस दुर्भागी अयोध्यामें आयी हैं, इनकी गणना कौन करेगा? अरे विधाता! इस रघुकुलने तेरा क्या बिगाड़ा है, जो उसपर वज्रपात-पर-वज्रपात करते-करते तेरा मन नहीं भर रहा है, तेरा हृदय नहीं काँप रहा है? ला सुमित्रा, जलझारी दे। आज मैं उस विधाताको शाप दूँगी।' कहते-कहते माँ कौसल्या उर्मिलाको अपनी छातीसे लगाकर बिलखने लगी। 'हाय, इस कमलिनीकी अनखिली कलीकी कंगनियोंपर, नूपुरोंपर, माँगके चुटकीभर सिन्दूरपर किसकी कुदृष्टि लग गयी? अरे! इस उर्मिलाको देखनेसे पहले कोई तो, कोई तो मेरी ये आँखें फोड़ दो। मेरी बहन सुमित्राके लालोंकी जोड़ी बिछड़ गयी रे। अयोध्याको चारों दिशाओंसे प्रभासित करनेवाली प्रभा पंगुल हो गयी रे।'

माँ कौसल्याको बिलखती देखकर, उनके अंकपाशसे धीरेसे अपनेको पृथक्कर उर्मिला तीव्र गतिसे अपने पूजा-कक्षमें जा पहुँची। लक्ष्मणजीके चित्रके सम्मुख प्रज्वलित दीपककी निष्कम्प ज्योति देखकर तुरंत लौटते हुए बोली, 'माँ! निश्चिन्त रहो। आर्यपुत्रकी जीवन ज्योतिकी वर्तिका निष्कम्प है। वे प्रभुकी छत्रछायामें सुरक्षित हैं। यह संकट टलनेके लिये ही आया है। उन्हें गौरवान्वित करनेके लिये, उनके द्वारा पराभव पानेके लिये ही आया है। देखो, आपका बायाँ विलोचन अश्रुपूरित होते हुए भी कैसे फड़क रहा है? आप धैर्य धारण करें। राजपुत्रोंपर ऐसी घड़ियाँ उन्हें यशस्वितासे विभूषित करनेके लिये ही आती हैं? आयी है, तभी तो ये वानरराज विशाल शैलखण्डको करतलपर कमलपत्रकी भाँति धारण किये हुए जा रहे थे। ऐसा दृश्य कब किसने देखा? देखो, औषधियोंसे निकलनेवाली कान्तिकी रश्मियाँ क्या लपटें ही कहनी चाहिये, वे लपक-लपककर रात्रिके प्रगाढ़ अन्धकारको धूम्रमर्दिनी भगवतीके समान कैसे निगलती चली जा रही हैं? प्रकाशका एकछत्र साम्राज्य दूर-दूरतक फैलता चला जा रहा है। लगता है रघुकुलकी सौभाग्यलक्ष्मी अपनी मधुर मुसकान बिखेर रही है। 'निदानहीन कहलानेवाली वीरघातिनीका निदान राघवोंने किया' ये अभूतपूर्व शब्द-रत्न रघुकुलके इतिहासके स्वर्णिम पृष्ठोंको अलंकृत करने जा रहे हैं।'

'पुत्रि उर्मिले! भगवती भारती तेरे एक-एक शब्दको सत्य करें। समस्त श्रृंगारोंसे सुसज्जित तेरे रंजनी-रंजित कर-पल्लव मुझे गंगाजल पान कराकर विदा करें। इस समय विधातासे मेरी आँचल पसारकर यही याचना है।' कहते हुए कौसल्या अपने अश्रु पोंछते

हुए बोली, 'हनुमान्! वत्स! विलम्ब मत करो। जाओ, किंतु रामको मेरा सन्देश दे देना कि वह अयोध्यामें मेरे लक्ष्मणको लिये बिना प्रवेश न करे। लक्ष्मण धरतीपर रामके आगमनके पश्चात् ही आया। गुरुकुल उसके साथ और महामुनि विश्वामित्रके साथ भी उसके पीछे-पीछे ही गया। वनवास तो रामको ही मिला था, किंतु उसने उसे अकेले नहीं जाने दिया। हठीला हठ करके वज्रार्गल बनकर खड़ा हो गया। अपनी सहधर्मिणीको सान्त्वनाके दो शब्द कहे बिना उस साँवलेकी सुगौर छाया बनकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। अब कदाचित् हमारे किन्हीं पापोंके फलस्वरूप लक्ष्मण इस धरतीसे जाने लगे तो राम उसे आगे न जाने दे। इसके लिये उसे अपना ही बाण अपने वक्षमें धँसाना पड़े तो धँसाते हुए, उसे ठेलते हुए, यमसदनमें उससे प्रथम प्रवेश करे।'

'नहीं-नहीं जीजी! आप निरन्तर क्या प्रलाप किये जा रही हैं? रामके रहते हुए लक्ष्मणका स्पर्श विश्वभरका कोई घोर-से-घोर अमंगल भी कदापि-कदापि नहीं कर सकता।

हनुमान्! मेरे रामको मेरा सन्देश देना। यदि जानकीके उद्धार-यज्ञमें मेरा लक्ष्मण वीरगतिको प्राप्त हो जाय तो वह यही माने कि जैसे रघुकुलकी प्रतिष्ठाके लिये लड़े गये अनेकों युद्धोंमें पूर्वमें अनेकों सैनिकोंको आहुति देनी पड़ी, वैसे ही एक सैनिककी भाँति लक्ष्मण भी जूझ गया, किंतु कैसा भी संग्राम करना पड़े, करे और उस दुर्दान्त राक्षसके बन्दिगृहमें पड़ी हुई मेरी वधूको अवश्यमेव निकाल लाये।'

तभी शत्रुघ्नने कहा कि 'हनुमान्! मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ' 'नहीं-नहीं शत्रुघ्न! तुम नहीं, मारुतिके साथ मैं चलता हूँ।' कहते हुए भरत ज्यों ही खड़े होने लगे, उनकी दक्षिण भुजा फड़क उठी। मारुतिकी स्थिति विचित्र हो गयी। श्रीरामका यह परिवार त्याग-तपस्या, स्नेह-सौहार्दमें एकसे बढ़कर एक, किस-किससे क्या-क्या कहकर कैसे विदा लें। ज्ञानियोंमें अग्रगण्य कहलानेवाले वात्सल्य-ममत्वके स्नेहिल धरातलपर स्वयंको अत्यन्त कठिनाईसे बार-बार सँभालते हुए जैसे खड़े हो रहे हों, वे इस प्रकार बोले।

'प्रभुकी कृपासे लोकपितामह ब्रह्मदेव एवं भगवान् आशुतोष शंकरके वरदानोंसे अवध्य श्रेणीमें मान्य किये जानेवाले अनेकानेक राक्षस-सुभट रणभूमिमें चिरनिद्रा प्राप्त कर चुके हैं। महाबली कुम्भकर्ण भी प्रभुके बाणोंसे खण्ड-खण्ड होकर जा चुका है। देखो, बार-बार मेरे दक्षिणांग फड़क रहे हैं। आप सभीके आशीर्वादसे ये अमोघ औषधियाँ सुबेलाचल पहुँच जायँगी। भ्रातृवर लक्ष्मण अपनी जननियोंके अमोघ आशीर्वादसे, अपनी तपस्विनी सहधर्मिणीकी साधनाके बलपर निद्राविमुक्तकी भाँति क्षणभरमें उठ जायँगे। उनके द्वारा मेघनाद अवश्य ही पांचभौतिक पिंजरका परित्यागकर इस धरतीसे प्रस्थान करेगा। प्रभु देवी मैथिली और सौमित्रके साथ हममेंसे अनेकोंके सहित, निश्चित तिथिपर आकर आपके दर्शन करेंगे। इस विषयमें स्वच्छ चाँदनी बिखेरते हुए ये चन्द्रदेव एवं चन्द्रमौलि देवाधिदेव साक्षी हैं। आप कृपया अब इस कपिको गमनकी आज्ञा दें।'

चलनेको आतुर हनुमान्के करतलपर रखे हुए द्रोणाचलपर, ऊर्मिलाके हाथसे दो पुष्प लेकर माता कौसल्याने रख दिये। हनुमान् सभीको यथायोग्य प्रणाम करते हुए, आकाश-मण्डलमें दिव्य आभाएँ बिखेरते हुए कुछ क्षणोंमें ही अन्तर्धान हो गये।

कहानी—

बलजी-भूरजी

(श्रीरामेश्वरजी टांटिया)

आजसे सत्तर-अस्सी वर्ष पहले राजस्थानके शेखावाटी अंचलमें बलजी-भूरजी धाड़ैतियों (डाकुओं)-का बड़ा दबदबा था। लोग उनके नाम सुनकर ही काँपने लगते। ऐसी भी घटनाएँ सुननेमें आयीं कि १००-१५० बारातियोंके हथियारोंसे लैस दलको बलजी-भूरजीके ५-६ साथियोंके सामने अपना सामान और धन-दौलत रख देना पड़ता था।

जो भी हो, उनका एक नियम था। उन्होंने कभी भी ब्राह्मण, हरिजन, गाँवकी बहन-बेटी अथवा दुखी-द्ररिद्रको नहीं सताया। इनके प्रति वे इतने सदाशय रहे कि कई बार तो प्राणोंकी बाजी लगाकर या गिरफ्तारीका जोखिम उठाकर भी वे गरीब ब्राह्मणोंकी कन्याओंके विवाह में मायरा (भात) भरनेके लिये आया करते थे।

कुछ वर्षों बाद, उनके नामका नाजायज फ़ायदा उठाकर नानिया नामका एक रूंगा (राजस्थान की एक नीच जाति) अपनेको बलजी बताकर निरीह लोगोंको सताने लगा। इस बातकी चर्चा बलजी-भूरजीतक भी पहुँची, किन्तु उन्होंने इसे गम्भीरतासे नहीं लिया।

इसी बीच एक वारदात हो गयी। बिसाऊ नामका एक कस्बा शेखावाटीके उत्तरी कोनेमें है। यहाँके सेठ खेतसीदास पोद्दार अत्यन्त सरल और धर्मप्राण व्यक्ति थे। उनके दान-पुण्यकी चर्चा पास-पड़ोसके अंचलमें फैली हुई थी। लोग उनका नाम बड़े आदरके साथ लिया करते थे। जरूरतमन्दोंको वे गुप्तरूपसे सहायता करते, नाम या शोहरतकी उन्होंने परवाह कभी की नहीं।

एक दिन सेठजी अपने चीलिये ऊँटपर सवारीकर पासके गाँवमें रिश्तेदारीमें जा रहे थे। उनके इस ऊँटकी चर्चा आस-पासके गाँवों और कस्बोंमें थी। वह सवारीमें जितना आरामदेह था, उतना ही चालमें चीलकी तरह तेज था, इसीलिये उसका नाम चीलिया पड़ गया था। आमतौरसे सेठजीके साथ सफ़रमें हमेशा एक-दो ऊँट या घोड़े और दो-चार सरदार रहते थे, किन्तु संयोगकी बात कि उस दिन वे अकेले ही थे।

पौषकी संध्या थी। हलकी सर्दी पड़ने लगी थी, झुटपुटा हो चला था। सेठजीने देखा कि कुछ दूर रास्तेके किनारे एक अर्धनग्न वृद्ध उन्हें रुकनेका संकेत कर रहा है। तेजीसे ऊँट बढ़ाकर वे उसके पास पहुँचे।

पूछनेपर पता चला कि वह भी उसी गाँव जा रहा है, जहाँ सेठजी जा रहे थे। पैरमें मोच आ गयी, इसलिये लाचारीसे बैठ जाना पड़ा। जाना जरूरी है, यदि सेठजी उसे साथ ले लें तो बड़ी कृपा हो।

सेठजीने ऊँटको जैका (बैठा) लिया और सहारा देकर वृद्धको अपने पीछे बैठाकर ऊँटको आगे बढ़ाया।

थोड़ी देरमें ही उन्हें पीछेसे जोरका एक झटका लगा। वे ऊँटपर से नीचे गिर पड़े। दौड़ते ऊँटपरसे गिरनेके कारण एक बार तो उन्हें गश आ गया, किन्तु किसी तरहसे वे सम्हल गये। एक पैरके घुटनेकी हड्डी टूट गयी, पीड़ा जोरोंसे बढ़ने लगी।

ऊँट स्वामिभक्त था और समझदार भी। बहुत मारपीट और खींचातानीपर भी वह आगे नहीं बढ़ा। अड़ गया और टरडाने (आवाज करने) लगा।

सेठजी ने देखा, ऊँटके सवारकी सफेद दाढ़ी-मूँछें हट चुकी थीं, उसकी शक्ल बड़ी भयावनी दिखायी दे रही थी। असह्य पीड़ासे वे विकल हो रहे थे; फिर भी स्थिति समझनेमें उन्हें देर नहीं लगी। उन्होंने सवारसे
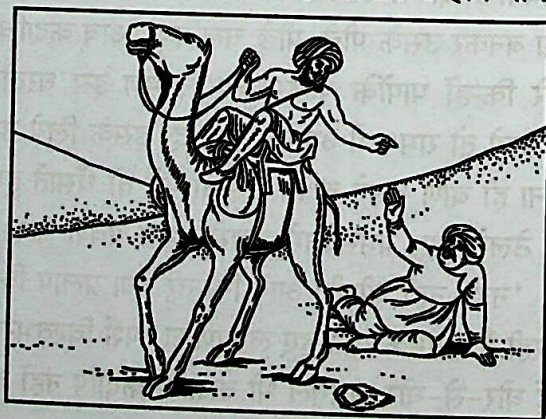
कहा—''तुम्हारा परिचय जानना चाहूँगा।''

डाकूने मूँछोंपर हाथ फेरते हुए प्रसन्नतासे अट्टहास करते हुए कहा—''मैं बलजीका आदमी हूँ, उनका मन इस ऊँटपर बहुत दिनोंसे था, पर मौका नहीं लग रहा था। अब आप या तो इस ऊँटको अपने संकेतसे मेरे साथ जानेके लिये राजी कर दें, नहीं तो मुझे आपको इस

दुनियासे उठा देना पड़ेगा।''

सेठजी बड़े मर्माहत हुए। उन्हें बलजी-भूरजीसे इस प्रकारके धोखेकी कल्पना नहीं थी। उन्हें सहसा विश्वास भी नहीं हो पा रहा था। उन्होंने कहा—''बलजी-भूरजी डाकू जरूर हैं, पर इस ढंगकी धोखेबाजी उन्होंने की हो, ऐसा सुननेमें अबतक नहीं आया। मुझे इस बातमें कुछ धोखा-सा लगता है। खैर, तुम जो कोई भी हो, तुम्हें जीणमाताकी सौगन्ध है कि आजकी इस घटनाकी बात कहीं भी नहीं कहना। तुम चाहो तो ऊँटके साथ सौ-दो सौ रुपये और दे दूँगा!''

डाकूने देखा कि उसका पाला एक अजीब आदमीसे पड़ा है। ऊँट तो जा ही रहा है, कुछ रुपये देनेको तैयार है। ताज्जुब तो यह कि घटनाके बारेमें चुप रहनेकी शर्त रखता है!

कुछ असमंजससे उसने सेठजीसे शर्त समझानेके लिये कहा। सेठजीने बताया कि वे डरते हैं कि इस घटनाकी चर्चा यदि फैली तो भविष्यमें लोग अपरिचित बूढ़ों या असहाय राहगीरोंकी सहायता करनेसे डरेंगे। उन्हें इसमें धोखा नजर आयेगा। मनुष्यका अपनी ही जातिपरसे विश्वास उठ जायगा। तुमने बेकार ही इतना सब किया। तुम्हें ऊँट इतना पसन्द था, मुझसे यूँ ही माँग लेते।

इतनी बातें सुननेपर भी डाकूने सेठजीसे ऊँटको चलनेका इशारा देनेको कहा। सेठजीने इशारा किया और ऊँट चल पड़ा। डाकूने उन्हें उसी घायल हालतमें बियाबानमें छोड़ दिया।

दूसरे दिन सेठजीको ढूँढ़ते हुए लोग वहाँ पहुँचे और उन्हें घर ले गये। क्या हुआ, ऊँट कैसे गया, इसकी चर्चाको उन्होंने टाल दिया।

असलियत बहुत दिनों छिपाये छिपती नहीं। बलजी-भूरजीको सेठजीका ऊँट गायब हो जानेकी खबर लग गयी और यह भी पता चला कि नानिया रूंगाके पास वह ऊँट है। वे सारी बातें समझ गये।

कुछ ही दिनों बाद सेठजीका ऊँट उनके नोहरेसे बँधा हुआ मिला। उसके गलेमें बँधी एक दफ्तीपर लिखा था—''सेठ खेतसीदासजीको बलजी-भूरजीकी भेंट। वे डाकू जरूर हैं, पर धोखेबाज नहीं।''

ठीक इसीके दूसरे दिन नानिया रूंगाकी लाश झुँझनूके पासकी पहाड़ीकी तलहटीमें पायी गयी।

[प्रेषक—श्रीनन्दलालजी टांटिया]

आस्तिकता सदाचारकी जननी है

(डॉ० श्रीविद्याभास्करजी वाजपेयी)

आस्तिकता मनुष्य-समाजके सुख-शान्तिका आधार है। वह जीवनके अन्तरालमें प्रविष्ट होकर सही प्रेरणा देती है। ईश्वर है—केवल इतना मान लेना आस्तिकता नहीं है। ईश्वरकी सत्तामें विश्वास कर लेना भी आस्तिकता नहीं है; क्योंकि आस्तिकता विश्वास नहीं, अनुभूति है। ईश्वर है—यह बौद्धिक विश्वास है। ईश्वरको अपने अन्तःकरणमें अनुभव करना, उसकी सत्तामें सम्पूर्ण जगत्को ओत-प्रोत देखना और उसकी अनुभूतिसे रोमांचित हो उठना ही सच्ची आस्तिकता है। ईश्वरको अपनेसे भिन्न अनुभव न करना, जड़-चेतनमें ईश्वरका रूप देखना, ईश्वरके अतिरिक्त भिन्न सत्ताका अस्तित्व स्वीकार न करना ही आस्तिकता है। सच्चा आस्तिक प्रत्येक प्राणीको अपना भाई-बहन मानता है, तदनुरूप व्यवहार करता है, प्रेम करता है और बन्धुभावसे प्रेरित होकर वह प्रत्येककी सहायता करता है। वह किसीसे स्वार्थ अथवा अविश्वासपूर्ण व्यवहार कदापि नहीं करता। इस प्रकार वह सच्चा आस्तिक सहजहीमें आत्मकल्याणकी भावनाका अधिकारी बन जाता है। उसके सुरक्षित हृदयपर आसुर प्रवृत्तियाँ आक्रमण नहीं कर पातीं। क्रोध, लोभ, मोह, माया उसे विचलित नहीं कर पाते।

यदि संसारका प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण रूपसे आस्तिक बनकर ईश्वरीय आदर्शपर चलने लगे तो न कोई किसीको सतायेगा, न उसे प्रवंचित करनेका प्रयत्न करेगा। सभी अपनी-अपनी सीमाओंमें शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करने लगेंगे। आज जो विसंगतियाँ देखनेमें आती

हैं, उनका एकमात्र कारण यही है कि लोग अपना-अपना स्वार्थ देखते हैं। दूसरोंकी सुख-सुविधाओंका ध्यान नहीं रखते। विवेकद्वारा उचितको अपनाने तथा अनुचितसे बचनेकी प्रक्रिया ईश्वर हर समय पूरी करता है। प्रत्येक सत्कर्म हमें आन्तरिक सुख पहुँचाते हैं। दुष्कर्मका प्रयास हृदयमें धुकधुकी उत्पन्न करता है। अन्तर्द्वन्द्व खड़ा होता है, पैर डगमगाने लगते हैं, किंतु करुणा, प्रेम, दया, श्रद्धा-जैसी सद्भावना असीम आत्म-सन्तोष प्रदान करती है। इन्हें चरितार्थ करनेके लिये कुछ कष्ट सहना, संयम बरतना पड़ता है। ईश्वर वह निरंकार सत्ता है, जो सत्प्रवृत्तियोंके आदर्शोंके समुच्चयके रूपमें तथा अनुशासनके रूपमें हमारे चारों ओर विद्यमान है। वह सत्ता हमें दिखायी भले ही न दे, पर हमारे रोम-रोममें बसकर प्रतिक्षण हमें अपने अस्तित्वका भान कराती है।

वस्तुतः आस्तिकता ईश्वरीय अनुशासनको कूट-कूटकर अपने चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहारमें समाविष्ट कर लेनेका नाम है। जो आस्तिक है, वह परमसत्ताका अनुशासन अपने जीवनमें उतारता है। सही ढंगसे जो जीवन जीता है, विश्वको सुन्दर उद्यान समझकर मालीकी तरह उसकी देखभाल करता है, भले ही वह मन्दिर, मस्जिद और पूजागृहोंमें न जाता हो, किंतु ईश्वरकी सृष्टि-संरचनाको सँवारनेमें लगा हो तो वह सच्चा ईश्वर-भक्त है। जो बाह्याडम्बर रचता हो, धार्मिकताका ढोंग करता हो, जिसके जीवनमें आदर्शवादिता, सच्चरित्रता, उत्कृष्टता न हो, वह नास्तिककी श्रेणीमें आता है।

आज संसारमें जो अनाचार फैला हुआ है, उसका एकमात्र कारण है—स्वार्थ। दूसरोंकी सुख-सुविधाकी उपेक्षाकर जो अपने अधिकारकी सीमा बढ़ाते रहते हैं; उन्हें आस्तिक नहीं कहा जा सकता। आस्तिकताकी मान्यताको सुस्थिर बनानेके लिये ही पूजा, उपासना, कर्मकाण्डके विविध प्रकार बताये गये हैं। हम मानवीय आदर्शोंसे भटककर पशु-प्रवृत्तियोंमें लीन हो जाते हैं; तब इन अवांछनीय स्थितियोंसे उबारनेके लिये ईश्वरको अवतरित होना पड़ता है। ईश्वरभक्ति उसीकी सार्थक है, जो ईश्वरसे निकटता, अभिन्नता स्थापित करनेका प्रयत्न करता है। एक क्षण भी धर्म-कर्म न करनेवाला व्यक्ति यदि मानवताका ठीक-ठीक मूल्यांकन करता है, समाजके प्रति अपने दायित्व निभाता है, किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता, जिसका हृदय सहानुभूति, संवेदनासे भरा होता है, वही सच्चा धार्मिक है, सच्चा आस्तिक है। आस्तिकता ही मनुष्यको ईश्वरके प्रति आकर्षित करती है, वही ईश्वरको मनुष्यके प्रति अनुदान बरसानेको उकसाती रहती है।

आस्तिकतासे धर्म-प्रवृत्तिका जागरण होता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि जो धर्म-कर्म करता है, वह आस्तिक भी हो। अनेक लोग प्रदर्शनके लिये धर्म-कार्य करते हैं, ईश्वरके प्रति अपना विश्वास और श्रद्धा प्रकट करते हैं, किंतु उनकी यह अभिव्यक्ति मिथ्या एवं प्रदर्शनमात्र हुआ करती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लोग आवश्यकता, परिस्थिति, शिष्टाचार अथवा स्वार्थवश किसीके प्रति भाव न होनेपर भी स्नेह, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति दिखाने लगते हैं। आस्तिकतासे उत्पन्न धर्ममें प्रदर्शन सम्भव नहीं। जो अणु-अणुमें ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करता है, वह मिथ्या प्रदर्शन करनेका साहस नहीं करता। सच्ची धार्मिकताका जन्म आस्तिकतासे होता है। यदि ईश्वरकी इस रूपमें सतत अनुभूति हो सके तो हमारे जीवनके क्रियाकलाप बदल जायँगे। हम सही अर्थोंमें आस्तिक कहलानेयोग्य होंगे। उदारता व्यक्तिको आस्तिक बनाती है। जो ईश्वरपर विश्वास करते हैं, वे निजी जीवनमें उदार बनकर जीतें हैं। वे बादल बनकर अपना कोष ही नहीं चुका देते, बल्कि वे बार-बार खाली होते हैं फिर भर जाते हैं। नदियाँ उदारतापूर्वक अपना जल समुद्रको देती हैं, समुद्र भाप बनकर पुनः लौटा देता है। आदान-प्रदानकी यह प्रक्रिया प्रसन्नतापूर्वक चला करती है। नियतिका यह चक्र उन्हें सतत हरा-भरा बनाये रखनेकी व्यवस्था करता रहता है। मनुष्य-समाजकी व्यवस्था और लोगोंकी दूषित मनोवृत्तियोंपर नियन्त्रणके लिये आत्मदर्शन एवं आत्मनियन्त्रणकी आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति आस्तिकताद्वारा ही सम्भव है।

'दानी कहुँ संकर-सम नाहीं'

(श्रीमोहनलालजी चौबे, एम०ए०, बी०एड०, साहित्यरत्न)

विनय-पत्रिकामें गोस्वामीजी लिखते हैं शंकरजीके समान कोई दानी नहीं है। शिवजी एक ही बारमें इतना दे देते हैं कि फिर कभी किसीसे माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शिवसे दान पानेवाला हमेशाके लिये अयाचक हो जाता है। इसलिये यदि माँगना हो तो शिवजीसे ही माँगो; क्योंकि ऐसा उदार अवढरदानी और शीघ्र प्रसन्न होनेवाला कोई दूसरा है ही नहीं। माँगना क्या है? श्रीरामजीके चरणोंकी भक्ति। यह कोई अन्य दे ही नहीं सकता, श्रीरामजी स्वयं कहते हैं—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
(रा०च०मा० ६।३।३, ६।२।८)

दीनदयालु भगत-आरति-हर, सब प्रकार समरथ भगवान।
(विनय-पत्रिका ३।१)

दातामें दीनोंपर दया करनेका गुण एवं देनेकी सामर्थ्य होनी चाहिये। भगवान् शंकरमें ये दोनों गुण विद्यमान हैं। *'संभु सहज समरथ भगवाना।'* (रा०च०मा० १।७०।३), *'संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।'* (रा०च०मा० ७।१०८) शिवजी कृपालु और दीनदयालु दोनों हैं। भगवान् होनेसे सर्वसमर्थ हैं। आशुतोष हैं, थोड़ी-सी पूजा करदेनेमात्रसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फल दे देते हैं—

बारि बुंद चारि त्रिपुरारि पर डारिये तौ
देत फल चारि, लेत सेवा साँची मानि सो।
(कवितावली ७।१६१)

भगवान् शंकर मरणासन्न जीवके कानमें रामनाम मन्त्र फूँककर काशीमें उसे मोक्ष प्रदान कर देते हैं—

जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥
(रा०च०मा० ४।१०।४)

सौलभ्य गुण उनका ऐसा है कि एक लोटा जल चढ़ानेसे, मदार एवं बेलपत्र चढ़ानेसे, धतूरा और चार अक्षतके दाने चढ़ानेमात्रसे इहलोकके सुख और परलोक सहज ही दे देते हैं।

पात द्वै धतूरेके दै, भोरें कै, भवेससों,
सुरेसहूकी संपदा सुभायसों न लेत रे॥
(कवितावली ७।१६२)

याचकके लिये आप कल्पतरु हैं—जैसे कल्पवृक्ष अपनी छायामें आये हुए व्यक्तिको अभीष्ट वस्तु प्रदान करता है, वैसे ही आप शरणागतकी समस्त इच्छाएँ पूरी कर देते हैं।

शिवजीकी स्तुति करते हुए अयोध्यापति महाराज दशरथने उन्हें अवढरदानी कहा है—

सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी॥
(रा०च०मा० २।४४।७-८)

यहाँ शिवजीके लिये महेश, सदाशिव, आशुतोष एवं अवढरदानी—ये चार विशेषण दिये हैं, जो अत्यन्त सार्थक हैं। महेश अर्थात् महान् ईश्वर हैं आप, जो कार्य कोई नहीं कर सकता, वह आप कर सकते हैं। दूसरा विशेषण है सदाशिव अर्थात् आप कल्याणकारी हैं, तीसरा विशेषण है आशुतोष अर्थात् शीघ्र ही सन्तुष्ट होनेवाले हैं—आप अवढरदानी हैं अर्थात् आपके दानकी सीमा नहीं है, आपके समान कोई दानी नहीं है, ऐसे महान् दानी हैं कि याचककी याचनापर अप्रत्याशित अभिलषित वस्तु भी दे बैठते हैं और देते-देते अघाते भी नहीं।

अन्य दानियों एवं शंकर-पार्वतीजीमें एक बड़ा अन्तर यह है कि *'दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥'*

जिसकी प्रवृत्ति स्वभावसे ही दान देनेकी है। इन्हें बिना दान दिये चैन नहीं पड़ता। देनेकी धुन सदा सवार रहती है।

चाहै न अनंग-अरि एकौ अंग मागनेको
देबोई पै जानिये, सुभावसिद्ध बानि सो।

(कवितावली ७।१६१)

याचकगण अन्य लोगोंको उतने प्रिय नहीं लगते, किंतु इन्हें तो वे सदा ही अच्छे लगते हैं—*'जाचक सदा सोहाहीं।'* दूसरे दानी तो याचकोंको एक बार देकर छुट्टी पा जाना चाहते हैं, दोबारा कहीं कोई याचक माँगने आया तो वे चिढ़ जाते हैं, किंतु शंकरजी दोबारा आये हुए याचकोंको आते देख उनका पुनः-पुनः आदर करते हैं। अन्य दाताओंका कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है (यश-कीर्ति प्राप्त करनेका) किंतु शिवशंकर निःस्वार्थ हैं, उन्हें कोई कामना नहीं है। वे निष्काम हैं—वे तो काशीकी गली-गलीमें घूम-घूमकर मरणासन्न जीवोंके कानोंमें राममन्त्र फूँकते रहते हैं—

आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥

(रा०च०मा० १।४६।४)

शिवजीकी दानशीलताका उलाहना ब्रह्माजी माता पार्वतीको देते हुए कहते हैं *'बावरो रावरो नाहु भवानी'* हे भवानी! आपके पति शंकरजी तो बावले-से हो गये हैं। बावलापन क्या है, इसे आगे कहते हैं।

दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥
निज घरकी बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।

(विनय-पत्रिका ५।१-२)

इस पदमें ब्रह्माजीद्वारा शंकरजीके अतिशय दातृत्व गुणकी प्रशंसा व्यंग्यसे की गयी है। देखनेमें तो शिवजीकी निन्दा प्रतीत होती है, किंतु वस्तुतः उनकी प्रशंसा की जा रही हैं। पदमें व्याजस्तुति अलंकार है।

ब्रह्माजी कहते हैं—हे भवानी! आपके पति बड़े भारी दानी हो गये हैं। दान देनेके कुछ नियम हैं। ये उन नियमोंको तोड़कर मनमानी कर रहे हैं। मनमानी क्या है? जिन लोगोंने भूलसे भी कभी किसीको दान नहीं दिया, वे ही तो इस जन्ममें भिक्षुक बने हैं। वेद-रीति यह है कि दानमें आदान एवं प्रदान दोनों होना चाहिये अर्थात् जिसने कभी दान नहीं दिया, उसे दान लेनेका अधिकार नहीं। ऐसे अदानी कृपण ही भिक्षुक बनते हैं। शिवजी ऐसे ही भिखमंगोंको निरन्तर दान दिये जा रहे हैं। वे वेदमार्गका अनुसरण नहीं करते, फिर उनके दान देनेकी कोई सीमा भी नहीं। रावण एवं बाणासुर सभी दैत्योंको इन्होंने बिना विचारे अपार सम्पत्ति दे रखी है। आप अपने घरका ध्यान रखिये अन्यथा आपके घरमें श्मशानकी राख, भाँग-धतूरा और फूल-पत्तियोंके अलावा कुछ बचेगा ही नहीं, बर्तनके नामपर एक खप्पर एवं वाहनके नामपर बैलमात्र बचा है। आप अन्नपूर्णा हैं अवश्य, पर कबतक इनकी पूर्ति करेंगी?

यह तो हुई आपके स्वामीकी स्थिति, यदि आप इनके साथ न होती तो इनकी स्थिति क्या थी? घरकी हालत ऐसी खस्ता और दान देनेका ऐसा शौक! इनके दानको देखकर सरस्वती और लक्ष्मीको भी ईर्ष्या हो रही है। सरस्वती इसलिये खिन्न हैं कि शिवजी इतना दान दे रहे हैं कि मैं इसका वर्णन करते-करते थक गयी हूँ तथा लक्ष्मीजी इसलिये ईर्ष्या कर रही हैं कि जो वस्तुएँ वैकुण्ठमें भी दुर्लभ हैं, वे शिवजी इन कंगालोंको बाँट रहे हैं।

सिवकी दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी॥

(विनय-पत्रिका ५।२)

कवितावलीमें भी कविने शिवजीके घरकी स्थितिपर व्यंग्य करते हुए उनकी दानशीलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा ब्रह्माजीसे करायी है।

नागो फिरै कहै मागनो देखि 'न खाँगो कछु' जनि माँगिये थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरैं जाचक जोरो॥
नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं, नाहिं पिनाकिहिं नेकु निहोरो।
ब्रह्मा कहै, गिरिजा! सिखवो पति रावरो, दानि है, बावरो, भोरो॥

(कवितावली ७।१५३)

ब्रह्माजी कहते हैं जिनके भाग्यमें मैंने सुख लिखा ही नहीं, शिवजीने उन्हें स्वर्ग भेज दिया। अर्थात् ब्रह्माका लिखा भाग्य पलटकर अनधिकारियोंको स्वर्ग भेज रहे हैं। स्वर्गमें पुण्यात्माके लिये मैंने स्थान रखा है, अब इन

नये भिक्षुकोंके लिये मैं स्वर्गमें कहाँ स्थान दूँ, मेरे तो नाकों दम आ गया है—

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥

(विनय-पत्रिका ५।३)

ब्रह्माजी आगे कहते हैं दुःख और दीनता शिवजीके इस कृत्यको देखकर घबरा गये हैं।

दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥

(विनय-पत्रिका ५।४)

शिवजीने पापियोंको पुण्यात्मा बना दिया, दुखी और कंगालको राजा बना दिया, प्रकृतिके सारे नियम ही पलट दिये। बेचारी दीनता और दुःख मारे-मारे फिर रहे हैं, मुखसे कह रहे हैं हम कहाँ जायँ? क्या करें? भला मैं इन्हें क्या उत्तर दूँ? दुख और दीनता याचकताके ही अंग हैं। भावार्थ यह है कि शिवजीकी दानशीलताने सभी दीनों और कंगालोंको सुखी और राजा बना दिया, कोई दीन-हीन रंक रहा ही नहीं।

अन्तमें ब्रह्माजी उपालम्भ देते हुए कहते हैं कि अब हमारा स्वर्ग-नर्क भेजनेका अधिकार समाप्त हो गया और अब हमारे ब्रह्मा पदपर रहनेका क्या औचित्य है? इसलिये हम तो पदत्याग करना चाहते हैं। यह कार्य आप किसी औरको सौंप दें। अब मुझे भी यह समझमें आ रहा है क्यों न मैं भी शिवजीका भिक्षुक बनकर ऐश्वर्यका भोग करूँ?

श्रीराम ईश्वर हैं, ये सभीको देते हैं, पर कभी इन्हें आवश्यकता पड़े तो ये किससे माँगते हैं? मानसमें श्रीरामका माँगना केवल दो ही स्थलोंपर लिखा गया है। या तो वे दीन-हीन केवटसे माँगते हैं—*'मागी नाव न केवटु आना'* अथवा शिवजीसे माँगते हैं—

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहिं यह मोहि माँगे देहु॥

(रा०च०मा० १।७६)

केवट और शिवजी दोनों भगवान्‌के प्रेमी हैं, भक्त हैं। भगवान् सदा भक्तोंको वर देते हैं एवं यदि उन्हें कभी आवश्यकता पड़े तो उन्हींसे माँगते भी हैं।

गोवंशका विनाश—देशकी अर्थव्यवस्थापर कुठाराघात

(श्रीसुभाषजी पटेल)

युगोंसे चली आ रही गोपालन आधारित कृषिकी भारतीय परम्परा आज व्यावसायिक भावके कारण तेजीसे टूट रही है। इंसान आज अपने विकासके आगे समस्त इंसानियतको छोड़ रहा है, टेक्नोलॉजीके जालमें फँसकर बढ़ते वाहनों, यन्त्रों और अन्य सुख-सुविधाओंने मनुष्यको आलसी और स्वार्थी बना दिया है। समाजद्वारा गोवंश (पशुधन)-की घोर उपेक्षासे कसाइयों, तस्करों, व्यवसाइयोंकी पौ-बारह हो गयी है। वे पशुओंके एक-एक कतरेका उपयोग क्रूरतापूर्वक कमाईके लिये कर रहे हैं। पशुधनके घटने एवं इसपर आधारित कृषि-व्यवस्था चौपट होनेके कारण आज डॉलरके मुकाबले रुपया गिर रहा है। यह कटु सत्य है कि विज्ञान चाहे जितनी तरक्की कर ले, फैक्ट्रियोंमें शुद्ध दूध, दही, घी, फल, फूल, सब्जी, खाद्यान्न नहीं बन सकता, इसके लिये गोपालन और जैविक खेती आवश्यक है। पहले जहाँ गोपालनसे परिवारको शुद्ध, पौष्टिक, सात्त्विक दूध, दही, मक्खन आदि भरपूर मिलता था, वहीं खेतीके लिये निःशुल्क देशी गोबरकी खाद, गोमूत्र प्राप्त होता रहा तथा बैलोंसे खेतकी जुताई और अनाजकी ढुलाई बिना बजटके होती रही है, जिससे किसान सुखी-सम्पन्न रहा और समस्त समाज निरोगी रहा, परंतु यांत्रिक खेती, रासायनिक खाद और कीटनाशकके अत्यधिक प्रयोगसे महँगी लागतसे किसान दुखी और इससे उपजा खाद्यान्न विषैला होनेसे समस्त समाज बीमारीग्रस्त होने लगा है तथा भूमि फसलोंके पोषक तत्त्व एवं मित्र जीवाणु, पशु-पक्षी खत्म हो रहे हैं।

समाजद्वारा उपेक्षाके कारण गोवंशकी दुर्दशा— बड़ी तेजीसे गौठान, गोचर, गोशालाओंकी भूमियोंमें अतिक्रमण एवं निर्माण हो रहे हैं। गोवंशके चरने, बैठनेकी जगह नहीं बची। गोग्रास, चरवाहा, कांजीहाउस-प्रथा बन्द होती जा रही है। यान्त्रिकीकरणके चलते किसान गोपालक गोवंशको मारकर भगा रहा है, कसाई तस्करोंको दे रहा है। प्रतिदिन लाखों गोवंश और कृषिके लिये उपयोगी पशुओंकी हत्या हो रही है तथा उन्हें कत्लखानोंको पैदल एवं ट्रक वाहनोंमें क्रूरतापूर्वक खुलेआम भेजा जा रहा है। सर्वे बताते हैं कि आजादीके समय ८३ करोड़ पशुधन था, जो आज घटकर ८ करोड़ बचा है। अकेले मध्य प्रदेश जहाँ गोवध प्रतिषेध कानून लागू है, यहाँसे हर साल १२ लाख जिन्दा मवेशी बँगलादेश और पाकिस्तान भेजे जाते हैं। इस पशुधनकी तस्करीमें करीब २५ अरबकी सालाना कमाई की जाती है। पशु-तस्करीके अवैध कारोबारका जाल पूरे देशमें फैला हुआ है। म०प्र० के कटनी, जबलपुर, दमोह, सागरसे उमरिया, शहडोल होकर बिलासपुर, झारखण्ड होकर बँगलादेश तथा डिंडोरी, मण्डला, जबलपुर, छिंदवाड़ा होकर महाराष्ट्रके देवनार कसाईखानेतक लाखों गोवंश पैदल एवं वाहनोंसे भेजा जा रहा है। जबलपुरमें अवैध तरीकेसे कृषि-पशुओंका वधकर मांस ट्रेनों एवं वाहनोंके माध्यमसे देशके कोने-कोने एवं विदेश सप्लाई होता है। सिर्फ कटनी जिलेमें डेढ़ सौ से ज्यादा आपराधिक प्रकरण कसाई तस्करोंके विरुद्ध कायम हुए हैं, जो यह दर्शाता है कि बेखौफ तस्करी की जा रही है। पशु-बाजार आज पशु-तस्करीके सबसे बड़े अड्डे बने है, इन पशु-बाजारोंकी आड़में तस्करीकी सुविधा बन चुकी है। मध्य प्रदेश के बीचोबीच कटनी, जबलपुर जंक्शन होनेके कारण पश्चिम, उत्तर, पूर्व, दक्षिण, मध्य भारतके अतिरिक्त उत्तर प्रदेशके कानपुर, उन्नाव, मेरठ, उड़ीसा, पंजाब—सभी तरफके मार्ग यहाँसे गुजरते हैं, जिससे गोवंश चारों तरफ भेजनेमें तस्करोंको आसानी होती है।

पाँच सौ से लेकर ५—१० हजारमें बिकनेवाला गोवंश, कसाई तस्करोंद्वारा काटकर लाखोंका बनाया जाता है। जिन्दा चमड़ा गर्मपानी डालकर निकाला जाता है, जिससे कुरुम एवं काफलेदर बनाया जाता है। विदेशोंमें लोग दुधार गाय-भैंसका मांस ज्यादा खाते हैं और महँगे-से-महँगा खरीदते है। गाय-भैंस आदिके मांसमें वसा और प्रोटीन दोनों होता है। मवेशी जितना ज्यादा पैदल एवं लम्बा सफर चलेगा, उसके शरीरका वसा उतना कम और प्रोटीन ज्यादा हो जाता है। ज्यादा प्रोटीन हो जानेके कारण पशु ज्यादा कीमतमें बिकता है और शरीरसे चमड़ा निकालनेमें आसानी होती है, चमड़ा मुलायम रहता है। गोरक्षा-हेतु शासन-प्रशासन और हमें खुद ही पहल करनी होगी, पशु-क्रूरता और गोवध-प्रतिषेध अधिनियमको कठोरतासे लागू करनेकी जरूरत है। आज गोपालन बढ़ाने एवं जैविक खेतीको प्रोत्साहित करनेकी महती आवश्यकता है। मांस-निर्यात तत्काल बन्द हो, गायको राष्ट्रीय पशु घोषितकर केन्द्रीय गोरक्षा कानून बनाया जाना और उसे कठोरतासे लागू करना समयकी माँग है; क्योंकि देशकी अर्थव्यवस्थाकी सुदृढ़ता गोपालनसे ही सम्भव है।

'हरि तोरे दरसन केहि बिधि पाऊँ'

(श्रीतेजपालजी उपाध्याय)

हरि तोरे दरसन केहि बिधि पाऊँ।
घर गृहस्थिन में उलझ रह्यो हूँ, भजन नहीं कर पाऊँ॥
ज्यों बैठूँ तोहि सुमरिन को, इत-उत भटक के जाऊँ।
थिर न रहे यह पापी मनवा, केहि बिधि एहि समझाऊँ॥
फिर भी चाहत तोरे दरस की, हिय में मैं अकुलाऊँ।
'तेजपाल' पे कृपा करो प्रभु, रो-रो पूछूँ उपाऊँ॥

कर्मभोग एवं कर्मप्रायश्चित्त

(श्रीसुदर्शनसिंहजी 'श्रीचक्र')

गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४।१७)

कर्मकी गतिको गहन कहनेका तात्पर्य है—जो कर्म करता है, वही फल भोगता है और कर्मका फल भोगना ही पड़ता है—इतनी सीधी बात नहीं है।

औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु॥

(रा०च०मा० २।७७)

आपको यह बात अटपटी लगती है या नहीं? गीताका यह श्लोक भी यहाँ विचारणीय है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गीता ४।१८)

जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। वह युक्त है। वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

कर्म सब हो रहे हैं, किंतु आसक्ति नहीं है, उनमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं है तो व्यक्ति अकर्ता है। और कर कुछ नहीं रहे हैं, किंतु मन 'यह करो' 'यह करो' की योजनाएँ बना रहा है तो वह देहसे कुछ न करनेवाला कर्ता ही है।

प्रधान सेनापति या राष्ट्रपति युद्धमें तोप चलाते हैं या बन्दूक? लेकिन युद्धका कर्ता कौन माना जाता है? विजय किसकी कही जाती है? सेवक जो काम करते हैं; उसका पाप-पुण्य, लाभ-हानि स्वामीका है या नहीं?

आप कहेंगे कि जिसमें कर्तृत्वका अहंकार है, कर्मफल उसे होता है। स्वामीमें कर्तृत्वका अहंकार है। वह कर्ता भले ही न हो, कारयिता है; अतः फलभोग उसे प्राप्त होना ही चाहिये। लेकिन आपने व्रत-माहात्म्यमें शिवरात्रि-व्रतका माहात्म्य पढ़ा होगा। एक हिंसक शिकारी दिनभर वनमें भटकता रहा। कुछ मिला नहीं भोजनको, अतः भूखा रहा। रात्रिमें वन्य पशुओंसे बचनेके लिये बेलके पेड़पर चढ़ गया। प्राणभयसे रात्रिभर जागता रहा। संयोग ऐसा कि उस वृक्षके नीचे शिवलिंग था। शिकारीके हिलने-डोलनेसे बेलपत्र टूटते तो शिवलिंगपर गिरते। यह उसका शिवरात्रिव्रत तथा शिवार्चन मान लिया गया। कहाँ उसमें कर्तृत्वका अहंकार है?

एक दूसरा उदाहरण—वृन्दावनमें यमुनाकिनारे एक टीलेपर एक अच्छे सन्त खड़े-खड़े श्रीब्रजराजकुमारकी लीलाओंका चिन्तन कर रहे थे। कोई ऐसी लीला चित्तमें आयी कि उन सन्तको हँसी आ गयी। संयोग ऐसा कि उसी समय यमुनाजीसे स्नान करके कोई दोनों पैरोंसे लँगड़ा, कुबड़ा साधु उधर आ रहा था। सन्तको हँसते देखकर उसे लगा कि 'ये मुझे देखकर हँस रहे हैं।' उसे बहुत दुःख हुआ। इधर सन्तके हृदयमें भगवल्लीलाका दर्शन बन्द हो गया। बहुत प्रयत्न किया उन्होंने, बहुत व्याकुल हुए, किंतु फल कुछ नहीं निकला।

'तुमसे किसीका अपमान हुआ है।' किसीका हृदय तुम्हारे कारण दुखी हुआ है। उससे क्षमा माँगो।' जब उन सन्तने दूसरे महापुरुषसे अपना दुःख सुनाया तो उन्हें यह उत्तर मिला। बहुत सोचनेपर उनको स्मरण आया कि उस समय आस-पास तो एक साधु ही दीखा था। ढूँढ़कर वे उसके समीप गये।

'बच्चे-बड़े सब मुझे देखकर हँसते हैं। वे अज्ञानी हैं, अतः हँसें तो ठीक है; किंतु आप सन्त होकर, ज्ञानी होकर भी हँसते हैं। यह शरीर कुछ मेरा बनाया है?' लँगड़े साधुने उन सन्तको खरी-खरी सुनायी। 'आप मुझपर हँसेंगे तो मुझे दुःख नहीं होगा तो क्या सुख होगा? मैं दीन हूँ, दुर्बल हूँ, आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, इसलिये जो आपके जीमें आये कर लीजिये।'

सन्त तो क्षमा माँगने गये थे। उन्होंने अपनी हँसीका कारण बतलाया और क्षमा माँगी। उस साधुको भी अपनी भूलका पता लगा। उसने भी क्षमा माँगी, किंतु सन्तमें कहीं अपमानका कर्तृत्व था? उनको जो भगवल्लीलाके दर्शनसे वंचित रहना पड़ा, यह उनके किस कर्मका फल हुआ?

कर्मका फल प्रायः कर्तृत्वके अहंकारसे होता है, यह नियम ठीक है। कर्मका फल कर्ताको ही होता है, यह नियम भी ठीक है। कर्मका फल भोगना ही पड़ता है, यह बात भी सत्य है, किंतु ये सब सामान्य नियम

हैं। सैकड़ों नियम-उपनियम इन सामान्य नियमोंके बाधक हैं; क्योंकि कर्मका फल कहीं कर्ताकी प्रधानतासे होता है, कहीं देशकी प्रधानतासे, कहीं कालकी प्रधानतासे, कहीं क्रियाकी प्रधानतासे, कहीं वस्तु-उपकरणकी प्रधानतासे और कहीं तो फलभोक्ताकी प्रधानतासे ही कर्मफल कम-अधिक हो जाया करता है।

कर्मफलमें अनेक भागीदार होते हैं। माता-पिता, पुत्र, पति या पत्नी, देशका शासक, गुरु—ये सब कर्मफलमें भाग पाते हैं, भले उस कर्मके किये जानेका उन्हें पतातक न हो। कर्मका आदेश देनेवाले, उसका समर्थन या विरोध करनेवाले, उसकी प्रशंसा या निन्दा करनेवाले भी उसमें भाग पाते हैं।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि **'गहना कर्मणो गतिः।'** कर्मकी गति बहुत गहन—अत्यन्त जटिल है। बड़े-बड़े कर्मशास्त्रके ज्ञाता भी इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं।

कर्मभोग कितना?

किस कर्मका क्या भोग प्राप्त होगा? कितने समयतक प्राप्त होगा? इसका वर्णन यद्यपि ज्योतिषशास्त्र और कर्मविपाक दोनोंमें है, यह सत्य है। किंतु यही कोई बहुत सुनिश्चित बात नहीं है। सबको एक-सा ही फल नहीं मिलता। स्थितिके अनुसार तारतम्य रह सकता है।

एक ही कर्मका उदीयमान दुःखद फल एक पापरत प्राणीको दीर्घकालतक दुःख देता है और एक साधकको कभी-कभी तो उसके आराध्यकी कृपासे केवल स्वप्नमें ही उसका फलभोग हो जाता है। जाग्रत्में उसका कोई प्रभाव ही नहीं होता। इसीलिये राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणगुप्तने कहा था—

अरे डराते हो क्यों मुझको, कह कह विधिका अटल विधान।
'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' है समर्थ मेरा भगवान॥

भक्तिशास्त्रमें—भगवान्‌में जिनकी श्रद्धा है, उन भगवान्‌के मंगल-विधानमें सहज विश्वास रखनेवाले भक्तोंपर प्रारब्धका कोई प्रभाव नहीं होता। वे सर्वत्र सदा भगवान्‌का मंगल-स्पर्श प्राप्त करते हैं। भक्तका कोई पूर्वकृत कर्म ऐसा फल प्रकट नहीं कर सकता, जिसमें भक्तका अहित—अमंगल हो। कर्मविधानका दुःख-पारतन्त्र्य भक्तके लिये जाग्रत् तो क्या, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्रीशुकदेवजी तो कहते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

'राजन् परीक्षित्! शरण लेनेयोग्य श्रीमुकुन्दकी शरणमें जो अपने कर्तृत्वाभिमानको छोड़कर सर्वात्मना चला गया, वह अब देवता, ऋषि, प्राणी, श्रेष्ठ मनुष्य (राजादि) एवं पितरोंका भी न सेवक है और न ऋणी।'

अतः कर्मका भोग कब, कैसे मिलेगा और कैसे नहीं मिलेगा, इस चिन्ताको छोड़कर मंगलमय श्रीहरिके मंगल-विधानपर विश्वास रखकर उनकी शरण ग्रहण करना सबसे निरापद मार्ग है। जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिये सकाम अनुष्ठान तथा कर्म-प्रायश्चित्तका विधान शास्त्रने किया है।

कर्मप्रायश्चित्त

मनुष्य संयम-नियमसे रहे और नियमित पथ्य, आहार-विहार रखे तो उसके रोगी होनेकी सम्भावना बहुत कम रहती है। रोग प्रायः आहार-विहारके असंयमसे अथवा कहीं किसी प्रकारकी सावधानीमें त्रुटि हो जानेसे होते हैं। जब रोग हो जाता है, तब उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है।

'रोगी स्वयं कुशल चिकित्सक भी हो तो भी अपनी चिकित्सा स्वयं न करे, यह नियम है।' उसे दूसरे अच्छे चिकित्सककी सम्मति लेनी चाहिये। जो चिकित्साशास्त्र जानते ही नहीं अथवा अपूर्ण जानते हैं, उनके द्वारा कोई चिकित्सा करायेगा तो परिणाम जो कुछ होगा, वह आप समझ सकते हैं।

पाप मानसिक रोग हैं। जैसे आहार एवं आचारसे च्युति होनेसे शारीरिक रोग होते हैं और वे दुःख देते हैं, वैसे ही विचार-आचारमें च्युतिका होना ही 'पाप' कहलाता है। इससे मनमें रोग होते हैं और कालान्तरमें ये जब फलदोन्मुख होते हैं तो तन-मन दोनोंके लिये दुःखद होते हैं।

शारीरिक रोग तत्काल दुःख देने लगते हैं, किंतु पाप तो रोगके बीजके समान हैं। जैसे किसीके शरीरमें

कैंसरका बीज पहुँच जाय तो वह बहुत देरमें रोगके रूपमें प्रकट होता है और पीड़ादायक बनता है, उसी प्रकार पाप दु:खके बीज हैं, जो देरमें या जन्मान्तरमें अपना भयानक रूप प्रकट करते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति कैंसर तथा दूसरे किसी रोगका बीज शरीरमें पहुँचनेकी सम्भावना होनेपर जाँच कराता है और यदि बीज शरीरमें हुआ तो उसकी उसी समय चिकित्सा करता है। उस समय रोगकी चिकित्सा सरल होती है। इसी प्रकार पाप—अशुभकर्म हो जायँ। अपनेको लगे कि हुए तो इनकी तुरंत चिकित्सा कर दी जानी चाहिये। इस समय इनका प्रायश्चित्त उतना कठिन नहीं होता; किंतु जन्मान्तरमें ये फलोन्मुख होंगे, तब इनके प्रभावको मिटानेके लिये जो अनुष्ठानादि करने होंगे, वे पर्याप्त कठिन होंगे।

अपकर्मका प्रायश्चित्त स्वयं कर्ता निश्चित नहीं कर सकता; क्योंकि एक ही कर्म देश, काल, पात्र तथा कर्ताकी योग्यता, मन:स्थितिके अनुसार लघु या गुरु बनता है। पापसे लघु-गुरु, शुष्क, आर्द्रके स्वत: भी भेद होते हैं। चींटीकी हत्या, गधेकी हत्या, मृग या वाराहकी हत्या, हाथीकी हत्या, मनुष्य या गौकी हत्या—ये सब प्राणिवध हैं, किंतु इनमें हत्याके समान पाप नहीं हैं। क्षुद्र जीवोंके वधका पाप 'क्षुद्र' माना गया है। बड़े प्राणियोंमें भी किन्हींके वधका पाप अल्प एवं किन्हींका बहुत माना गया है। हाथी उन्मत्त न हो तो युद्धके अतिरिक्त उसका वध महाहत्या—गो-वधके समान माना गया है। जो पाप तुरंतके हैं, वे आर्द्र हैं और जिनको पर्याप्त समय बीत गया है, वे शुष्क हैं। आर्द्र पापका प्रायश्चित्त शुष्ककी अपेक्षा अधिक होता है; क्योंकि शुष्क पापका अर्थ ही है कि वह मनोवृत्ति अब रही नहीं, अन्यथा उस पापकी पुनरावृत्ति हुई होती।

रोगोंकी चिकित्साके समान ही पाप-निदान होता है, पापका स्वरूप समय, स्थल, कर्ताकी शक्ति, साधन, स्थिति एवं मनोभावादिका पूरा विचार करके तब उसके अनुसार प्रायश्चित्त निर्धारित होता है। अत: जैसे प्रत्येक मनुष्य चिकित्सक नहीं होता, उसके लिये पर्याप्त अध्ययन एवं अनुभव आवश्यक होता है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति प्रायश्चित्त-निर्देशक नहीं हो सकता, भले वह उच्च कोटिका साधक अथवा महात्मा हो। इसके लिये प्रायश्चित्त-शास्त्रका गम्भीर अध्ययन तथा स्थितियोंको समझनेका अच्छा अनुभव आवश्यक है। ऐसे व्यक्तिसे ही प्रायश्चित्त-विधान प्राप्त किया जाना चाहिये।

जो लोभ, द्वेष, भय अथवा मोहके वश हो—इनसे प्रेरित हो, वह जैसे योग्य होनेपर भी उपयुक्त चिकित्सक नहीं है, वैसे ही ऐसा व्यक्ति उपयुक्त प्रायश्चित्त-निर्देशक भी नहीं हो सकता।

रोग अशुभ कर्मोंके फलसे ही आते हैं। अत:रोगकी चिकित्सा तथा ग्रहशान्तिके अनुष्ठान प्रायश्चित्त ही हैं। सकाम अनुष्ठानोंमें तथा प्रायश्चित्तमें इतना ही अन्तर है कि प्रायश्चित्त प्राय: वर्तमान जीवनमें किये गये पापोंको मिटानेके लिये—निष्प्रभाव करनेके लिये किया जाता है और सकाम अनुष्ठान पूर्वकृत अज्ञात अशुभ कर्मोंसे प्राप्त रोग, शोक, दु:ख या असफलताको दूर करनेके लिये होता है।

एक दिनके सामान्य उपवास, गंगास्नान, पंचगव्यपानसे लेकर चान्द्रायण, कृच्छ्रचान्द्रायण एवं देहत्यागतक प्रायश्चित्त-विधानके अन्तर्गत हैं।

आजके युगमें मनुष्य वैसे ही अल्पशक्ति, अल्पप्राण और श्रद्धाहीन हो गया है। वह कठिन प्रायश्चित्त कर सकेगा? ठीक-ठीक प्रायश्चित्त बतलानेवाले कठिनाईसे मिलते हैं। बतलानेवाला मिल जाय तो उसके बतलाये उपायपर श्रद्धा होनी कठिन और श्रद्धा भी हो तो क्या आज कष्ट उठा लेनेकी क्षमता सामान्य व्यक्तिमें है?

ऐसी दशामें आजका मनुष्य क्या करे? इस युगके लिये पाप-परिमार्जनका, सबके लिये सब पापोंके परिमार्जनका सुगम साधन शास्त्रने पहलेसे सुनिश्चित कर दिया है—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मति:॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १०)

'सब प्रकारके पापोंके कर्ता पापियोंके लिये केवल यही समुचित प्रायश्चित्त है कि वे भगवान् नारायणके नामका उच्चारण-जप-संकीर्तन करें, जिससे भगवान्‌में उनकी बुद्धि लगे।'

भगवन्नाम-कीर्तन, भगवन्नाम-जप सब पापोंका सुनिश्चित एवं सर्वसम्मत प्रायश्चित्त है। यह सर्वत्र, सब समय, सबके लिये सुगम है। अत: नामका आश्रय ही लेनेयोग्य है।

साधनोपयोगी पत्र

(१)
निर्भय बनिये

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) सिद्धान्त तथा सत्यके अनुसार भूत-प्रेत-योनिका अस्तित्व है और उनके कार्य भी होते हैं। पर भूत-प्रेतोंके नामसे जितनी बातें कहीं जाती हैं, उनमें सभी सचमुच भूत-प्रेतोंकी नहीं होतीं, कुछ मानस-संकल्पजनित होती हैं, कुछ हिस्टीरिया आदि रोगोंके कारण होती हैं, कुछ मानसिक दुर्बलताओंको लेकर होती हैं, कुछ ढोंग होती हैं और कुछ भोले-भाले लोगोंको ठगनेके लिये दिखावामात्र होती हैं।

(२) आपको जो भयानक सपना आया, वह मेरी धारणामें बहुत अंशोंमें केवल स्वप्न-जगत्‌की मानस-कल्पनामात्र है, उसमें सत्य नहीं है। हाँ, आपके अन्तर्मनमें पुराने कुछ संस्कार ऐसे हो सकते हैं, पर उनका वर्तमानसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) यदि आपके मनमें कुछ भय आ गया हो तो वह आपके मनकी कमजोरी है। उसके विरोधी निर्भयताके विचारोंको बार-बार दुहराकर उसे निकालिये। आप 'हनुमान-चालीसा' का पाठ रोज करते ही हैं। 'हनुमान-चालीसा' में आता है—*'भूतपिसाच निकट नहिं आवै। महाबीर जब नाम सुनावै॥'* हनुमान्‌जीके नामसे ही भूत-प्रेत भाग जाते हैं। आप श्रद्धापूर्वक 'हनुमान-चालीसा' के पाँच या ग्यारह पाठ रोज कीजिये, नकली तो क्या, असली भूतका भय भी भाग जायगा; टिक नहीं सकेगा। आप निश्चय मानिये।

गीताके ११वें अध्यायका ३६वाँ श्लोक है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

—इस मन्त्र (श्लोक)-को ११ बार बोलते हुए एक लोटा शुद्ध जलमें कुशा अथवा दाहिने हाथकी तर्जनी अँगुली फिराते जायँ। फिर उस जलको कमरेमें तथा जहाँ सोते हों, उस बिछौनेके चारों ओर छिड़क दें। यह क्रिया रोज, दोनों समय, सुबह-शाम करें। भूत-प्रेतका भय नहीं रहेगा। शेष भगवत्कृपा।

(२)
भाव-राज्य

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित है—

भाव जबतक केवल आवेगमात्र है, तबतक वह साधन-राज्यसे बाहरकी चीज है। भावके आवेगसे जिस कामनाका प्रादुर्भाव होता है, वह मनमें अशान्ति तथा ज्वाला उत्पन्न करनेवाली होती है। कामना स्वाभाविक ही अग्नि है, जो विषयोंकी आहुति पड़नेसे बढ़ती रहती है और यदि कहीं आघात पा जाती है तो क्रोधका कराल रूप धारण कर लेती है। अतः यदि भावका आवेग आता है तो उसका भगवान्‌में प्रयोग कर देना चाहिये। भगवान्‌से जुड़ते ही भाव पवित्र होकर साधन बन जायगा, जो सहज ही 'कर्म-राज्य' से उच्च स्तरपर पहुँचकर साधकको भगवान्‌की ओर अग्रसर कर देगा।

इस 'भाव-राज्य' से उच्च स्तरपर 'ज्ञान-राज्य' है, जो परमात्माके तत्त्वज्ञानका बोध कराता है, उससे भी उच्च स्तरपर सिद्ध 'भाव-राज्य' है। जो नित्य एक, पर नित्य दो बने हुए श्रीराधा-माधवका अतिशय उज्ज्वल धाम है। यहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है। यहाँ नटनागर श्यामसुन्दरके लीलाविहारका महान् मधुर अगाध सागर अत्यन्त प्रशान्त होनेपर भी नित्य उछलता रहता है और वे उसमें विविध मनोहारिणी अलौकिक भाव-तरंगोंके रूपमें क्रीडा करते रहते हैं। यह कल्पना नहीं, सत्य है। इस परम उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ भाव-राज्यकी सीमामें उसीका प्रवेश हो सकता है, जो घृणित भोगोंसे तथा कैवल्य मोक्षसे भी सदा विरत होकर केवल श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही आसक्त हो गया है। यह कोई आवेग नहीं; यह वस्तुस्थिति है और सच्चिदानन्दमयी मधुर लीला है। शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-ऋतु, अधिक आषाढ़ कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा प्रातः ६। २७ बजेतक द्वितीया रात्रिशेष ४। ४८ बजेतक	शुक्र	उ० षा० रात्रिमें २।४२ बजेतक	३ जुलाई	मकरराशि दिनमें ९। १८ बजेसे।
तृतीया रात्रिमें २।५० बजेतक	शनि	श्रवण " १।३३ बजेतक	४ "	भद्रा दिनमें ३। ४९ बजेसे रात्रिमें २। ५० बजेतक।
चतुर्थी " १२।३६ बजेतक	रवि	धनिष्ठा " १२।९ बजेतक	५ "	कुंभराशि दिनमें १२। ५१ बजेसे, पंचकारम्भ दिनमें १२। ५१ बजे, संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ९। ३० बजे।
पंचमी " १०।१३ बजेतक	सोम	शतभिषा " १०।३४ बजेतक	६ "	पुनर्वसुका सूर्य रात्रिमें १। ४४ बजे।
षष्ठी " ७।४६ बजेतक	मंगल	पू० भा० " ८।५६ बजेतक	७ "	भद्रा रात्रिमें ७। ४६ बजेसे, मीनराशि दिनमें ३। २१ बजेसे।
सप्तमी सायं ५। १७ बजेतक	बुध	उ० भा० ७।१५ बजेतक	८ "	भद्रा प्रातः ६। ३१ बजेतक, मूल रात्रिमें ७। १५ बजेसे।
अष्टमी दिनमें २। ५२ बजेतक	गुरु	रेवती सायं ५।४० बजेतक	९ "	मेषराशि सायं ५। ४० बजेसे, पंचक समाप्त सायं ५। ४० बजे।
नवमी " १२।३६ बजेतक	शुक्र	अश्विनी दिनमें ४।१४ बजेतक	१० "	भद्रा रात्रिमें ११। ३५ बजेसे, मूल दिनमें ४। १४ बजेतक।
दशमी " १०। ३४ बजेतक	शनि	भरणी " ३।३ बजेतक	११ "	भद्रा दिनमें १०। ३४ बजेतक, वृषराशि रात्रिमें ८। ५० बजेसे।
एकादशी " ८।५० बजेतक	रवि	कृत्तिका " २।१२ बजेतक	१२ "	पुरुषोत्तमी एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी " ७। २७ बजेतक	सोम	रोहिणी " १।४१ बजेतक	१३ "	मिथुनराशि रात्रिमें १। ३९ बजेसे, सोमप्रदोषव्रत।
त्रयोदशी प्रातः ६। ३१ बजेतक	मंगल	मृगशिरा " १।३८ बजेतक	१४ "	भद्रा प्रातः ६। ३१ बजेसे सायं ६। १६ बजेतक।
चतुर्दशी " ६।२ बजेतक	बुध	आर्द्रा " २।१ बजेतक	१५ "	श्राद्धकी अमावस्या।
अमावस्या सायं ६।४ बजेतक	गुरु	पुनर्वसु " २।५७ बजेतक	१६ "	कर्कराशि दिनमें ८। ४३ बजेसे, अमावस्या।

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य उत्तरायण, ग्रीष्म-वर्षा-ऋतु, शुद्ध आषाढ़ शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा प्रातः ६। ३९ बजेतक	शुक्र	पुष्य दिनमें ४। २३ बजेतक	१७ जुलाई	कर्क-संक्रान्ति दिनमें २। ५४ बजे, वर्षा-ऋतु प्रारम्भ, मूल दिनमें ४। २३ बजेसे।
द्वितीया दिनमें ७। ३९ बजेतक	शनि	आश्लेषा सायं ६। १४ बजेतक	१८ "	श्रीजगदीशरथ-यात्रा, सिंहराशि सायं ६। १४ बजेसे।
तृतीया " ९।८ बजेतक	रवि	मघा रात्रिमें ८।२९ बजेतक	१९ "	भद्रा रात्रिमें १०। १ बजेसे, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, मूल रात्रिमें ८। २९ बजेतक।
चतुर्थी " १०।५६ बजेतक	सोम	पू० फा० " ११।० बजेतक	२० "	भद्रा दिनमें १०। ५६ बजेतक, पुष्यका सूर्य रात्रिमें ३। १० बजे।
पंचमी " १२।५५ बजेतक	मंगल	उ० फा० " १।३७ बजेतक	२१ "	कन्याराशि प्रातः ५। ३९ बजेसे।
षष्ठी " २।५६ बजेतक	बुध	हस्त रात्रिशेष ४।१२ बजेतक	२२ "	श्रीस्कन्दषष्ठी।
सप्तमी " ४।४८ बजेतक	गुरु	चित्रा अहोरात्र	२३ "	भद्रा दिनमें ४। ४८ बजेसे, तुलाराशि सायं ५। २२ बजेसे, सायन सिंहका सूर्य रात्रिमें ९। ५ बजे।
अष्टमी सायं ६। २३ बजेतक	शुक्र	चित्रा प्रातः ६। ३३ बजेतक	२४ "	भद्रा प्रातः ५। ३६ बजेतक।
नवमी रात्रिमें ७। ३४ बजेतक	शनि	स्वाती दिनमें ८। ३५ बजेतक	२५ "	वृश्चिकराशि रात्रिमें ३। ४५ बजेसे।
दशमी " ८।१९ बजेतक	रवि	विशाखा " १०।८ बजेतक	२६ "	× × ×
एकादशी " ८।३१ बजेतक	सोम	अनुराधा " ११।१५ बजेतक	२७ "	भद्रा दिनमें ८। २५ बजेसे रात्रिमें ८। ३१ बजेतक, हरिशयनी एकादशीव्रत (सबका), मूल दिनमें ११। १५ बजेसे।
द्वादशी " ८।११ बजेतक	मंगल	ज्येष्ठा " ११।५० बजेतक	२८ "	धनुराशि दिनमें ११। ५० बजेसे, चातुर्मास्यव्रत प्रारम्भ।
त्रयोदशी " ७। २४ बजेतक	बुध	मूल " ११।५७ बजेतक	२९ "	प्रदोषव्रत, मूल दिनमें ११। ५७ बजेतक।
चतुर्दशी सायं ६। १० बजेतक	गुरु	पू० षा० " ११। ३५ बजेतक	३० "	भद्रा सायं ६। १० बजेसे रात्रिशेष ५। २१ बजेतक, मकरराशि सायं ५। २३ बजेसे, व्रत-पूर्णिमा।
अमावस्या दिनमें ४। ३४ बजेतक	शुक्र	उ० षा० " १०।५१ बजेतक	३१ "	पूर्णिमा, गुरुपूर्णिमा।

कृपानुभूति

गायपर हनुमत्कृपा

घटना सन् २००० ई० की है। तब हम गाँव बीघड़ (हरियाणा)-में रहते थे, हमारे बेटेके ससुरने एक ट्रकसे हमारे पास एक ढाई-तीन वर्षीया बछिया (गाय) भेजी एवं फोनद्वारा हमें सूचित करते हुए कहा कि इसे भी अपनी गायके साथ रखनेका कष्ट करें। वे लोग दूसरे शहरमें रहते थे। उनके पास गाय पालनेका कोई प्रबन्ध नहीं था। हमने सोचा प्रबन्ध हो जानेपर वे वापस ले जायेंगे, सो हमने उसे घरसे संलग्न अपनी हवेलीमें अपनी गाय, भैंसके साथ बँधवा दिया। हमारे खेतोंमें चारे-दानेकी कोई कमी नहीं थी, सेवादार भी थे। बछिया दो माससे गर्भवती थी। कुछ ही महीनोंमें वह हृष्ट-पुष्ट सुन्दर गाय दिखायी देने लगी।

एक दिन दुधारू पशु खरीदनेवाले व्यापारी आ गये। उन्हीं दिनोंमें गाय ब्यानेके लिये तैयार खड़ी थी। वे लोग ललचाई दृष्टिसे गायको देखते हुए मोल-भाव करने लगे। मेरे पतिद्वारा गाय बेचनेसे बार-बार इनकार करनेपर भी वे मोल बढ़ाते जा रहे थे। गाय बढ़िया नस्लकी एवं सुन्दर थी, व्यापारियोंने बीस हजार रुपये देनेको कहा। उन दिनों एक बढ़िया गायकी कीमतसे यह राशि बहुत अधिक थी। मेरे पतिने शर्माजी (बेटेके ससुर)-को फोन मिलाया और गायको बेचनेके लिये पूछा, परंतु उन्होंने गाय बेचनेसे इनकार कर दिया।

उसके एक दिन पश्चात् रविवारको गाय ब्या गयी। सोमवार प्रातःतक तो वह स्वस्थ थी, मध्याह्नको नौकरके बतानेपर देखा तो गाय गर्दन लटकाकर खड़ी थी। तब उसकी नजर उतारी गयी, देशी दवाइयाँ आदि भी दी गयीं, परंतु वह ठीक नहीं हुई, खाना-पीना छोड़कर बैठ गयी। शामको शहरसे चिकित्सकको बुलाया गया, उसकी चिकित्सासे भी कुछ सुधार न हुआ। अगले दिन मंगलवारको पुनः पशु-चिकित्सक आया। उसने सब प्रकारसे प्रयत्न किया, परंतु गायके स्वास्थ्यमें कोई सुधार न हुआ।

'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की' वाली दशा हो गयी। गाय पाँव फैलाकर लम्बी लेट गयी। डॉक्टरने कहा कि गाय कोई पॉलीथीन आदि खा गयी है, इसका अस्पताल ले जाकर ऑपरेशन करवाना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा नहीं, इतना कह वे चले गये। अब बहुत संकट खड़ा हो गया कि गाय माताको शहर कैसे ले जाया जाय और फिर उसका पेट चिरवायें? इस बीच यदि वह न बची तो हमें गोहत्याका पाप लगेगा। हम बहुत दुखी हुए।

उन दिनों मैं प्रत्येक मंगलवारको सुन्दरकाण्डका पाठ किया करती थी। सायंके चार बज चुके थे, मेरा पाठका समय हो गया था। मैंने बड़ी आतुरतासे हनुमान्‌जीसे गायकी प्राणरक्षाकी प्रार्थना की और पाठ करने बैठ गयी। पाठ सम्पूर्ण करके मैं हनुमान्‌जीको मनाती हुई बड़ी आशासे गायकी ओर गयी, परंतु मेरी आशा निराशामें बदल गयी। गाय वैसे ही निश्चेष्ट पड़ी थी। मेरे पति अपने क्लीनिकसे पहले ही वहाँ आये खड़े थे। उन्होंने सजल नेत्रोंसे कहा कि बस, गाय तो अभी जानेवाली है और फिर उन्होंने उसके गलेसे साँकल (रस्सी) निकाल दी। यह देखकर मेरा हदय काँप गया। मैं वापस घरकी ओर भागी। हनुमान्‌जीकी मूर्ति अभी चौकीपर ही विराजमान थी, मैं आकर उनके चरणोंपर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। हे स्वामी! यह गाय हमारे पास अमानत (धरोहर) है। हम शर्माजीको क्या मुँह दिखायेंगे? मैं संकटमोचनके नामकी दुहाई देते हुए बहुत पुकारती रही कि प्रभु! हमारी लाज रखो। मैं बहुत देरतक उपालम्भ देते हुए आर्त पुकार करती रही। झोली फैलाकर भीख माँगती रही। तभी मुझे ऐसा लगा, जैसे साक्षात् हनुमान्‌जी बैठे मेरी पुकार सुन रहे हैं। जब मैं थक-हारकर उठी तो, खिंची हुई-सी अनायास ही हवेलीमें चली गयी, ज्यों ही मैं ड्योढ़ीमें गयी, देखा कि गाय उठकर बैठी है। मैं खुशीसे चिल्ला पड़ी—'हे मेरे राम! गाय ठीक हो गयी।' सुनकर सब लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। तब हमारी प्रसन्नताका कोई पारावार न था। कुछ दिनों पश्चात् शर्माजीने हमें आकर बताया कि वह गाय उन्होंने अपनी बेटी (हमारी बहू)-को दानस्वरूपमें भेजी है।

मैं हनुमान्‌जीकी अपार कृपा जो हमारे ऊपर हुई, उस कृतज्ञताका वर्णन करूँ, ऐसे मेरे पास शब्द नहीं है।

—श्रीमती चन्द्रकला शर्मा

पढ़ो, समझो और करो

(१)

नारीमें अद्भुत शक्ति

यह बात तबकी है, जब मैं दस वर्षकी थी। हमारे पड़ोसमें एक चन्दूलाल मास्टर रहते थे। उनकी पहली पत्नीका देहान्त हो गया था। उन्होंने दूसरा विवाह किया था। पहली पत्नीसे पुत्री हुई थी, जिसका नाम चम्पा था। उन्होंने सोचा तो यह था कि दूसरी पत्नीके आनेपर चम्पाको माँ मिल जायगी और वह सुखी हो जायगी, किंतु हुआ वही, जो प्रायः होता है। नयी पत्नी बड़ी कर्कशा निकली। वह चम्पाको अकारण ही सताया करती। चन्दू मास्टर बहुत दुखी रहते। कभी-कभी कह भी बैठते कि यदि ऐसा पता होता कि दूसरा विवाह करनेसे इसका दुःख बढ़ जायगा तो विवाह कभी न करता। किंतु अब क्या होनेवाला था?

चम्पा मेरे साथ ही पढ़ती थी। हम दोनों साथ-साथ पढ़ने जाती। अपनी सौतेली माँद्वारा दिये जानेवाले त्रासोंको वह मुझसे तथा हमारे घर आकर मेरी माँसे भी कहती। सुनकर हमारे नेत्रोंमें भी अश्रु आ जाते और हम उसे समझा-बुझाकर घर भेजते। कुछ दिन बाद उसकी सौतेली माँके आग्रहसे उसका पढ़ना भी बन्द करा दिया गया और वह घरके काममें लगा दी गयी। नयी पत्नीने अपने एक सम्बन्धीके यहाँ चम्पाका विवाह करा दिया। वर-पक्षसे उसने इसमें अच्छी-खासी रकम ली थी; क्योंकि लड़का धनी परिवारका होते हुए भी बिलकुल मूर्ख-जैसा था। चम्पाने सोचा कि चलो, ससुरालमें जाकर तो सौतेली माँके त्राससे छूट जाऊँगी, किंतु उसे यहाँ भी वही दुःख भोगनेको मिला। सास-ननद अकारण परेशान करतीं। पति तो पागल-जैसा था ही। उसको उलटा-सीधा पढ़ाकर उससे वे चम्पाको पिटवातीं। अब उसे संसारमें कोई भी अपना न दीखता था। वह कई बार आत्महत्या करनेकी सोचती, परंतु पिताजीका स्मरण हो आता और रुक जाती।

कुछ दिन बाद वह ससुरालसे गाँव आयी। उसने अपने दुःखकी सब बातें हमारी माँको सुनायीं। माँने उसे आश्वासन दिया और फिर चन्दू मास्टरको बुलाकर सब बताया तथा कहा कि अब इसे ससुराल न भेजकर यहीं पढ़ाइये और किसी काममें लगा दीजिये, जिससे यह अपना जीवन-यापन कर सके। पत्नीके भयसे चन्दू मास्टर अपने पास तो उसे नहीं रख सके, परंतु उन्होंने उसकी एक मौसीके पास भेज दिया। वह अकेली थी और एक पाठशालामें अध्यापिका थी। उसने चम्पाको बड़े प्रेमसे रखा और पढ़ाया। मैट्रिककी परीक्षा पास कर लेनेपर वहीं पाठशालामें उसे अध्यापकीका काम भी दिला दिया। अब चम्पा सुखसे रहने लगी।

अचानक एक दिन उसके पिता चन्दू मास्टर आये और वे उससे ससुराल चले जानेका आग्रह करने लगे; कारण कि चम्पाके पति बहुत अधिक बीमार थे। मौसीकी इच्छा तो नहीं थी, परंतु तब भी चन्दू मास्टरके कहनेसे उन्होंने चम्पाको कुछ दिनकी छुट्टियोंपर ससुराल भेज दिया। वह ससुराल पहुँची तो देखा परिवारके सब लोग बहुत दुखी हैं। उसका पति किशोर मूर्च्छित अवस्थामें बीमार पड़ा है। वह तन-मनसे सेवामें जुट गयी। दिन-रातके परिश्रमके परिणामस्वरूप उसका पति ठीक हो गया। थोड़े ही दिनोंमें वह टहलने भी लगा। अब चम्पाने अपनी नौकरीपर वापस जानेकी बात चलायी। ससुराल-वालोंकी आज्ञा मिलनेपर वह अपने पतिके साथ मौसीके पास आ गयी। मौसीको किशोरका आना अच्छा नहीं लगा था, फिर भी उसने कुछ कहा नहीं। चम्पा पतिके साथ दूसरा घर लेकर मौसीकी आज्ञासे अलग रहने लगी। वह घरपर रहकर अपने पति किशोरको लगनपूर्वक पढ़ाती। कुछ दिनोंमें ही उसे मैट्रिक-परीक्षा दिला दी और पास हो जानेपर अपनी पाठशालामें ही अध्यापक बना दिया। प्राइवेट परीक्षा देकर उसने एम० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। पति किशोर उसका अब बहुत सम्मान

करता। उनकी दो संतानें हुईं—एक पुत्र, एक पुत्री। किशोर कभी-कभी कहता कि मैं अपने बच्चोंको इतना अधिक पढ़ाऊँगा कि वह पढ़कर अपनी माँ-जितने होशियार बन जायँ। उसके नेत्रोंमें चम्पाके प्रति अपार कृतज्ञता सदा दिखायी देती थी।

यह सुयोग देखकर मुझे ऋषि-महर्षियोंकी वह बात स्मरण हो आयी, जिसमें पतिव्रता नारीकी महिमा बतायी गयी है और कहा है कि कुशल सद्‌गृहिणी चाहे तो परिवारका जीवन बदलकर सुखमय बना सकती है। चम्पाने अपने एक पागल पतिको महान् विद्वान् बना दिया—अपनी सेवा और सद्व्यवहारके बलपर। नारी-शक्तिकी इस महत्तापर मेरा मस्तक बरबस झुक जाता है।—रमा यादव

(२)

दुर्लभ है विश्राम

अयोध्याके स्मृतिशेष सिद्ध संत श्रीबेनीमाधवदासजी महाराजका चरित्र अद्भुत, अद्वितीय और अप्रतिम जीवदयाका उदाहरण था।

उन्हें गुरुकृपासे ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि वे अतीतके किसी भी सिद्ध साधक, योगी, अवतार, पैगम्बर, गुरु, सम्प्रदायके आचार्यके दर्शन कर लेते थे। प्रमाण ये कि स्वयं बहुत शिक्षित न होते हुए भी वे इन सिद्धोंकी भाषामें इनका दिया उपदेश या प्रसाद लिख लेते थे। पर इस विस्मयकारी सिद्धिपर भारी है उनकी अपनी भावदशा—जीव-प्रेम। वे नित्यकर्मके लिये ब्रह्ममुहूर्तमें सरयू-किनारे बड़ी दूर जाते। स्नान-मार्जनके पश्चात् लौटते समय यदि मार्गमें पगडण्डीपर कोई कुत्ता भी सोता दिख जाय तो वे उससे एक फर्लांग दूर ही रुक जाते, बैठ जाते, अपनी गोमुखीसे नाम-स्मरण करने लगते। कभी-कभी घण्टों हो जाते, पर वे तभी उठते जब स्वस्फूर्त वे श्वान महाशय उठकर अपने रास्ते जाते। किसीके पूछनेपर वे कहते—भैया, कलियुगमें बड़ी कठिनाईसे चैन मिलता है, जीवको विश्राम दुर्लभ है। अकारण काहेको उसका विश्राम भंग करूँ।

संत श्रीबेनीमाधवदासजी महाराजका आचरण उच्चतम धार्मिक मूल्योंका साक्षात् उपदेश है। ऐसे महापुरुषकी स्मृतिको कोटिश: नमन।—श्रीनारायण तिवारी

(३)

गोमूत्रका चमत्कार

मैं तहनालगेटके बाहर रेगर बस्ती शाहपुरा जिला-भीलवाड़ा, राजस्थानका रहनेवाला हूँ। मेरा पुत्र आशाराम रेगर, जिसकी आयु ७ वर्ष है काफी मन्दबुद्धि तथा दोनों पैरोंसे लड़खड़ाकर चलता था तथा चलते समय दोनों पैर आपसमें टकराते थे। वह दौड़ नहीं पाता था। उसका इलाज बड़े-बड़े एलोपैथिक डॉक्टरों तथा आयुर्वेद-चिकित्सकसे भी कराया, लेकिन कोई लाभ नहीं मिला। मुझे जानकारी मिली कि शाहपुरामें ही भारतीय नस्लकी देशी गायके गोबर, गोमूत्रसे रिटायर गिरदावरजी जानकीलालजी पोरवाल इलाज करते हैं। मैं अपने पुत्रको उनके पास ले गया, इनके बताये अनुसार गायके ताजे गोबरको ताजे गोमूत्रके साथ बारीक पीसकर दोनों पैरों तथा सिरपर लगाकर एक माहतक प्रयोग किया। इस प्रयोगसे मेरा पुत्र भला-चंगा हो गया। अब वह अच्छी तरह चल-फिर लेता है और हलकी दौड़ भी लगा लेता है। अब उसके मानसिक स्तरमें भी काफी सुधार हो गया है।—सोहनलाल

(४)

सहृदयताकी मिसाल

७ मार्च, सन् २०१४ ई० को रात ९-१० के आसपास मेरा पुत्र ब्लाकसे कार्य सम्पन्नकर अम्बेडकरनगर जनपदसे फैजाबाद-सुलतानपुर रोडपर अपने दो साथियोंसहित घर आ रहा था। सुलतानपुर बाईपास द्वारिकागंजसे वे दोनों अपने निवास सुलतानपुर शहर चले गये और मेरा पुत्र अकेले ही अपने घरकी सड़क लखनऊ-वाराणसी रोडकी ओर चल दिया। बाईपासपर ही गोमती ब्रिजके पास सुलतानपुर शहरके करीबके रहनेवाले एक मुसलिम ग्राम-प्रधानका ढाबा है। ढाबेके आसपास प्राय: ट्रक-टैंकर आदि खड़े रहते हैं, जो कि

प्रायः रोडसे सटे रहते हैं। सामनेसे आ रही ट्रककी लाइटसे चौंधियाकर मेरे बेटेकी मोटर साइकिल खड़े टैंकरमें घुस गयी। हैलमेटके कारण शिरमें तो चोट नहीं आयी, परंतु जहाँ हैलमेट क्रेक था, वहाँ तथा कई जगह शरीरमें चोट लगी। दाहिना हाथ भी फ्रैक्चर हो गया, परंतु प्रभुकृपासे जीवन बच गया। ढाबेपर घटी इस घटना की खबर पाकर प्रधानजीने तुरंत पुलिस तथा एम्बुलेंसको सूचना दी तथा सदर हॉस्पिटल सुलतानपुरमें एडमिट कराया। इनका पैसा तथा कागजात सुरक्षितकर इनके मोबाइलसे फोन मिलाना शुरू किया। ईश्वरकी कृपासे फोनपर जो भी सूचना पाता, अस्पताल पहुँच जाता। मेरे सम्बन्धी, रिश्तेदार आदि अपनी गाड़ीसे आवश्यक सामान आदि लेकर मुझे सूचित करते हुए वहाँ पहुँचे। मैं लगभग ग्यारह बजे रातमें सुलतानपुर पहुँचा। मेरे सुलतानपुर पहुँचनेके बाद ही वे सज्जन वहाँसे यह कहते हुए हटे कि पैसा, सिफारिश जिसकी भी आवश्यकता हो मेरे इस नम्बरपर फोन कीजियेगा। हम लोग रातमें ही बेटेको ट्रामा सेण्टर लखनऊ ले गये। वहाँके इलाजसे मेरा बेटा थोड़े दिनमें स्वस्थ हो गया। मैं यह सोचता हूँ कि उस वीरान सुनसान दुर्घटना-स्थलपर अगर यह महामानव न होता तो? यह सोचकर मेरी रूह काँप उठती है। इतना ही नहीं वे एक माह बाद मेरे घर आये और कहा कि आपकी क्षतिग्रस्त मोटर साइकिल बनवाकर भेजूँ अथवा उसी रूपमें। उनको देखकर उनके कारनामोंसे आँखोंसे आँसू बरबस छलक पड़ते हैं। उन्होंने एक मुसलमानकी मुसल्लम ईमानकी ज्वलन्त तस्वीर प्रस्तुत की। उनके इस परोपकारी कार्यको सोचकर उनको कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।—**विश्वनाथ पाण्डेय**

(५)

आयुर्वेदके प्रचारकी आवश्यकता

सन् १९७९ ई० के सितम्बरकी बात है। एक दिन अचानक मेरी छातीमें दर्द प्रारम्भ हुआ। कुर्सी उठाकर दूसरे स्थानपर रखनेपर ही हाँफने लगता और चक्कर आने लगते। डॉक्टरोंने निरीक्षण करके बता दिया कि 'हृदयकी एक सफेद नसमें चरबीकी परत जम गयी है; उसे साफ़ करनेकी कोई ओषधि ही नहीं है। किसी मोटी नसका टुकड़ा काटकर यहाँ लगानेसे रोग मिटकर शान्ति मिल सकती है या नहीं—यह निश्चित नहीं है। अमेरिकामें वर्ष १९७८ ई० में ऐसे १,३५,००० ऑपरेशन हुए, परंतु इसमें रोगी व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वस्थ नहीं होते। उस समयतक अमेरिकामें ऐसे ५ लाख व्यक्ति थे, जिन्हें यह रोग हुआ था।'

मुझे लगा कि मेरा ऐसी अवस्थामें जीवित रहना व्यर्थ है। इतनेमें समाचार मिला कि भारतके एक योगी अमेरिका आये हैं और असाध्य रोगोंका कुशलतासे उपचार करते हैं। मैं उनसे मिला। उन्होंने मेरी स्थिति समझकर यौगिक उपचार प्रारम्भ किये; आयुर्वेदिक औषधि दी; आसन भी कराये; आहार-विहार संयमित कराये। ध्यानमें बैठने लगा और प्राणायाम सीखा।

इतनेमें योगीजी भारत चले गये। मैं दूसरे योगियोंसे मिला, परंतु वह सब व्यर्थ गया। मैंने भारतमें गये हुए उन योगीजीको उनके निवास-स्थानपर तारसे सूचना दी कि मैं भारत आ रहा हूँ। वे शिमलामें थे। उन्होंने सहर्ष मेरा स्वागत किया और अपने साथ घुमाने ले गये।

आश्चर्य कि उनके साथ मैं पर्वतोंपर चढ़ा और उतरा, परंतु शरीरमें कहीं पीड़ा न हुई। योगीजीने कहा—'अब तुमको भी विश्वास हो गया होगा कि रोग नहीं रहा है, परंतु आहार-विहार ठीक रखना, आसन करते रहना, शरीरका यन्त्र खराब न हो, इसका ध्यान रखना।'

थोड़े दिनोंके बाद मैं उनसे अलग हुआ। मैं एकदम स्वस्थ हो गया था। मेरी भारतवासियोंसे विनती है कि संसारभरमें फैल रहे हृदयरोगको मिटानेकी जो कला आपके पास है, वह विश्वमें किसीके पास नहीं है। उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उसका गौरव आप सबको बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार आप विश्वका कल्याण अवश्य करेंगे। योगासन आदि आयुर्वेदके जो अंग हैं, उन सबको विशुद्ध रखना और उनमें श्रद्धा बढ़ाना चाहिये।—**माइकेल बी० गुडमेन**

मनन करने योग्य

गो-सेवा तथा भगवन्नामकी महिमा

ऋतम्भर नामके एक राजा थे। उनके कई स्त्रियाँ थीं, पर कोई सन्तति नहीं थी। एक दिन अकस्मात् उनके घर महर्षि जाबालि आ पहुँचे। राजाने स्वागत-सत्कारके बाद संतानप्राप्तिके लिये उपाय पूछा। महर्षिने गायोंकी महिमाका गान करते हुए कहा कि भगवान् विष्णु, गौ और भगवान् शंकरकी कृपासे पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है।

राजाने आदरपूर्वक उनसे पूछा—'मुने! गौकी पूजा किस प्रकार की जानी चाहिये और उससे क्या फल होगा?' उन्होंने कहा—'महाराज! गो-सेवाका व्रत लेनेवाले पुरुषको गाय चरानेके लिये स्वयं प्रतिदिन जंगलमें जाना चाहिये। गायको जौ खिलाकर उसके गोबरमें जितने जौ निकलें, उनको चुनकर संग्रह करना चाहिये और पुत्रकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उन्हीं जौओंका यवागू या सत्तू आदि बनाकर भक्षण करना चाहिये। जब गौ जल पी ले तब व्रतीको पवित्र जल पीना चाहिये। गौ जब ऊँची जगहपर रहे तब उसको नीची जगहमें रहना चाहिये। गौके शरीरसे मच्छर और डाँसोंको निरन्तर हटाना चाहिये तथा उसके खानेके लिये अपने हाथों घास लाना चाहिये। इस प्रकार यदि तुम गो-सेवा-व्रतका पालन करोगे तो गोमाता तुम्हें निश्चय ही धर्मपरायण पुत्र देंगी।'

पुत्रकामी धर्मात्मा राजा ऋतम्भरने मुनिके आज्ञानुसार गो-सेवा-व्रत ग्रहण कर लिया। एक दिन वनमें राजा प्रकृतिकी शोभा देख रहे थे कि इसी बीचमें दूसरे वनसे आकर एक सिंहने गौके ऊपर आक्रमण किया। गौ सहसा कातर-स्वरसे चिल्लायी। राजाने दौड़कर देखा और अपनी गोमाताको सिंहके द्वारा निहत जानकर वे विकल होकर रोने लगे। तदनन्तर धैर्य धारण करके वे पुनः जाबालिमुनिके पास गये और सारी घटना सुनाकर उनसे इस पापसे मुक्तिका और पुत्रप्रद-व्रतकी पूर्तिका उपाय पूछा। मुनिने कहा—'पापोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंने भाँति-भाँतिके प्रायश्चित्त बतलाये हैं। नियमानुसार उनका अनुष्ठान करनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं, परंतु जान-बूझकर गो-वध और भगवान् नारायणकी निन्दा करनेवाले—इन दोनों महान् पापियोंका निस्तार नहीं हो सकता। जो नराधम मनमें भी गौओंको दुःख देनेकी इच्छा करता है, उसे चौदह इन्द्रों (मन्वन्तरोंके) कालतक नरकमें रहना पड़ता है। जो अभागा मनुष्य एक बार भी भगवान् हरिकी निन्दा करता है, वह अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ नरकमें जाता है। इसलिये राजन्! जो मनुष्य जान-बूझकर भगवान्‌की निन्दा और गौओंको दुःख देता है, उसे नरकसे मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती, परंतु अज्ञानसे किये हुए गो-वधका प्रायश्चित्त है। तुम राजा ऋतुपर्णके पास जाओ, वे तुम्हें उचित परामर्श देंगे।'

जाबालिमुनिके आज्ञानुसार राजा ऋतम्भर समदृष्टिसम्पन्न श्रीराम-भक्त राजा ऋतुपर्णके पास गये और सारी कथा सुनाकर उन्होंने उपाय पूछा। प्रतापवान्, धर्मविद्, बुद्धिमान् ऋतुपर्णने हँसते हुए कहा—'महाराज! कहाँ शास्त्रवेत्ता मुनि और कहाँ मैं! आप उन्हें छोड़कर मुझ पण्डिताभिमानी मूर्खके पास क्यों आये?' परंतु यदि आपकी श्रद्धा मेरे ही प्रति है तो मैं निवेदन करता हूँ, आप आदरपूर्वक सुनिये 'महामते! अब आप कपट छोड़कर तन, मन, वचनसे सर्वलोकेश्वर भगवान् श्रीरामका भजन कीजिये और उनको सन्तुष्ट करनेमें लगिये। वे तुष्ट होकर आपके हृदयकी समस्त कामनाओंको पूर्ण कर देंगे और आपके इस अज्ञानकृत गोहत्या-पापको भी नष्ट कर देंगे।'

महाराज ऋतुपर्णसे आदेश प्राप्त करके गो-सेवाव्रती राजा ऋतम्भर भगवान् श्रीरामके भजन-स्मरणसे पवित्रात्मा होकर पुनः व्रतपालनमें लग गये। वे प्राणिमात्रके हित-साधनमें लगकर निरन्तर भगवान् श्रीरामचन्द्रके नामका स्मरण करते हुए गो-सेवाके लिये महान् वनमें चले गये। कुछ दिनोंके पश्चात् उनकी सेवासे सन्तुष्ट होकर कृपामयी देवी कामधेनुने प्रकट होकर उन्हें अभीष्ट वर दिया और फिर वे अन्तर्धान हो गयीं। उसी वरके फलस्वरूप नरेन्द्र ऋतम्भरके घर परम भक्त सत्यवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। (पद्मपुराण)

बालपोथीके सभी संस्करण उपलब्ध
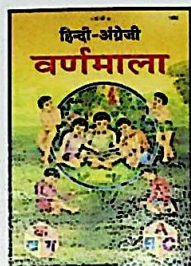
हिन्दी-अंग्रेजी वर्णमाला, रंगीन (कोड 1992) ग्रन्थाकार—प्रस्तुत पुस्तकमें हिन्दी-अंग्रेजी वर्णमाला एवं प्रत्येक वर्णमालासे सम्बन्धित रंगीन चित्र दिये गये हैं। मूल्य ₹३०

कोड	पुस्तकका नाम	मूल्य ₹
125	हिन्दी-बालपोथी (शिशुपाठ) रंगीन (भाग-१)	६
212	हिन्दी-बालपोथी (भाग-२)	५
684	हिन्दी-बालपोथी (भाग-३)	५
764	हिन्दी-बालपोथी (भाग-४)	१२
765	हिन्दी-बालपोथी (भाग-५)	१२

श्रीमद्देवीभागवतमहापुराणके विभिन्न संस्करण

'श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण'—[सचित्र, मूल श्लोक, हिन्दी-व्याख्यासहित], (कोड 1897-1898) दो खण्डोंमें—इस महापुराणको (मूल श्लोक भाषा-टीकासहित)-दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया है। देवीभागवतके कथा-पारायण एवं अनुष्ठानके परम्पराकी दृष्टिसे इसमें पाठविधि, सांगोपांग पूजन-अर्चन-हवनका विधान तथा नवाह्नपारायणके तिथिक्रमका भी उल्लेख किया गया है। दोनों खण्डोंका मूल्य ₹४०० **केवल हिन्दी [अठारह हजार श्लोकोंका श्लोक-संख्यासहित भाषानुवाद] (कोड 1793-1842)**—दोनों खण्डोंका मूल्य ₹२०० (अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)। **(कोड 1133) संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत** (मोटा टाइप)-केवल हिन्दी मूल्य ₹२४०, **(कोड 1770)** मूलमात्रम् मूल्य ₹१६५ भी उपलब्ध।

'गीताप्रेस' गोरखपुरकी निजी दूकानें

इन्दौर- जी० 5, श्रीवर्धन, 4 आर. एन. टी. मार्ग
ऋषिकेश- गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम
कटक- भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी
कानपुर- 24/55, बिरहाना रोड
कोयम्बटूर- गीताप्रेस मेंशन, 8/1 एम, रेसकोर्स
कोलकाता- गोबिन्दभवन; 151, महात्मा गाँधी रोड
गोरखपुर- गीताप्रेस—पो० गीताप्रेस
चेन्नई- इलेक्ट्रो हाउस नं० 23, रामनाथन स्ट्रीट किल पोक
जलगाँव- 7, भीमसिंह मार्केट, रेलवे स्टेशनके पास
दिल्ली- 2609, नयी सड़क
नागपुर- श्रीजी कृपा कॉम्प्लेक्स, 851, न्यू इतवारी रोड
पटना- अशोकराजपथ, महिला अस्पतालके सामने
बेंगलोर- 7/3, सेकेण्ड क्रास, लालबाग रोड
भीलवाड़ा- जी 7, आकार टावर, सी ब्लाक, गान्धीनगर
मुम्बई- 282, सामलदास गाँधी मार्ग (प्रिन्सेस स्ट्रीट)
राँची- कार्ट सराय रोड, अपर बाजार, बिड़ला गद्दीके प्रथम तलपर
रायपुर- मित्तल कॉम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी चौक (छत्तीसगढ़)
वाराणसी- 59/9, नीचीबाग
सूरत- वैभव एपार्टमेन्ट, भटार रोड
हरिद्वार- सब्जीमण्डी, मोतीबाजार
हैदराबाद- 41, 4-4-1, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार

इन स्टेशन-स्टालोंपर कल्याणके ग्राहक बन सकते हैं

दिल्ली (प्लेटफार्म नं० 5-6); नयी दिल्ली (नं० 16); हजरत निजामुद्दीन [दिल्ली] (नं० 4-5); कोटा [राजस्थान] (नं० 1); बीकानेर (नं० 1); गोरखपुर (नं० 1); कानपुर (नं० 1); लखनऊ [एन० ई० रेलवे]; वाराणसी (नं० 4-5); मुगलसराय (नं० 3-4); हरिद्वार (नं० 1); पटना (मुख्य प्रवेशद्वार); राँची (नं० 1); धनबाद (नं० 2-3); मुजफ्फरपुर (नं० 1); समस्तीपुर (नं० 2); छपरा (नं० 1); सीवान (नं० 1); हावड़ा (नं० 5 तथा 18 दोनोंपर); कोलकाता (नं० 1); सियालदा मेन (नं० 8); आसनसोल (नं० 5); कटक (नं० 1); भुवनेश्वर (नं० 1); अहमदाबाद (नं० 2-3); राजकोट (नं० 1); जामनगर (नं० 1); भरुच (नं० 4-5); वडोदरा (नं० 4-5); इन्दौर (नं० 5); औरंगाबाद [महाराष्ट्र] (नं० 1); सिकन्दराबाद [आं० प्र०] (नं० 1); विजयवाड़ा (नं० 6); गुवाहाटी (नं० 1); खड़गपुर (नं० 1-2); रायपुर [छत्तीसगढ़] (नं० 1); बेंगलुरु (नं० 1); यशवन्तपुर (नं० 6); हुबली (नं० 1-2); श्री सत्यसाईं प्रशान्ति निलयम् [दक्षिण-मध्य रेलवे] (नं० 1)।

फुटकर पुस्तक-दूकानें—चूरू-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, पुरानी सड़क, ऋषिकेश-मुनिकी रेती; बेरहामपुर-म्युनिसिपल मार्केट काम्प्लेक्स, के० एन० रोड, नडियाड (गुजरात) संतराम मन्दिर।

उपर्युक्त सभी गीताप्रेस गोरखपुरकी निजी दूकानों एवं स्टेशन-स्टालोंपर 'कल्याण'का शुल्क जमा कराके रसीद प्राप्त की जा सकती है।

gitapressbookshop.in से गीताप्रेस प्रकाशन online खरीदें।

प्र० ति० २०-५-२०१५
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR-13/2014-2016
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR-03/2014-2016

कल्याण-ग्राहकोंसे आवश्यक निवेदन

भगवत्प्राप्ति—आत्मोद्धारके संसाधनोंमें 'सेवा' की अपूर्व महिमा है। सेवाधर्म इतना विलक्षण तथा महिमामण्डित है कि इसका निर्वाह करने और निःस्वार्थ सेवाकी सीख देनेके लिये स्वयं भगवान् भी अपने निजधामका परित्यागकर मनुष्यरूपमें अवतार धारण करते हैं—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'* सेवाव्रत महान् तप है, महान् त्याग है और महान् साधना है। सच्ची सेवा यही है कि जीवको भगवान्की ओर लगा देना और उसका भगवच्चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न करा देना। सेवाधर्मकी उपेक्षा, अवहेलनाका ही यह परिणाम है कि आज सारा विश्व, सारी मानवता राग, द्वेष, वैमनस्य, ईर्ष्या, डाह, महान् दुःख एवं सन्तापकी अग्निमें झुलस रहा है। कहीं चैन नहीं, कहीं शान्ति नहीं, सुख नहीं—सर्वत्र तनाव व्याप्त है। सेवा और सहानुभूतिमें भगवान्का वास रहता है। सेवाप्रेमीजन स्वयं तो तर जाता है और दूसरे लोगोंको भी तार देता है—**'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।'**

'कल्याण' के वर्तमान वर्षके विशेषाङ्क **'सेवा-अङ्क'** की कुछ ही प्रतियाँ [मासिक अङ्कोंके साथ] उपलब्ध रह गयी हैं। अतः किसीको ग्राहक बनाना चाहें या उपहारमें भिजवाना चाहें तो रकम भेजनेके साथ पूरा पता [पिनकोड एवं मोबाइल नम्बर सहित] आर्डरके साथ प्रेषित करें। वी.पी.पी. से भी नया ग्राहक बननेकी सुविधा उपलब्ध है।

वार्षिक-शुल्क— ₹ २००, ₹ २२० (सजिल्द)। पञ्चवर्षीय-शुल्क— ₹ १०००, ₹ ११०० (सजिल्द)

Online सदस्यता-शुल्क-भुगतानहेतु-www.gitapress.org पर **Online Magazine Subscription** option को click करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

नवीन प्रकाशन—छपकर तैयार

आध्यात्मिक कहानियाँ (कोड 2002)—लेखनीके जादूगर स्व० सुदर्शन सिंह चक्रके द्वारा प्रस्तुत इस पुस्तकमें आध्यात्मिक पथकी प्रकाशक ३० कहानियोंका दुर्लभ संग्रह है। मूल्य ₹ २०

शक्तिपीठ-दर्शन (कोड 2003)—प्रस्तुत पुस्तकमें भगवतीके ५१ शक्तिपीठोंके इतिहास और रहस्यका विस्तृत वर्णन है। मूल्य ₹ २०

विदुरनीति (अंग्रेजी) (कोड 2001)—महाभारतसे संग्रहीत विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्रको दिये गये उपदेशोंको अंग्रेजी पाठकोंके कल्याणार्थ इस पुस्तकमें अंग्रेजी-अनुवादमें प्रकाशित किया गया है। मूल्य ₹ २०

कठोपनिषद्-शांकरभाष्य (तेलुगु) (कोड 990)—यम-नचिकेता-संवादके रूपमें इस उपनिषद्में यज्ञविद्या तथा ब्रह्मविद्याका विशद वर्णन किया गया है। मूल्य ₹ ३०

श्रीमद्देवीभागवत-तेलुगु (कोड 992)—भगवती आदि शक्तिके माहात्म्य एवं विभिन्न लीलाओंके परिचायक इस पुराणको अब तेलुगु भाषामें शीघ्र प्रकाशित किया जा रहा है। मूल्य ₹ २००

आदर्श चरितावली (कोड 2004) ग्रन्थाकार रंगीन—इस पुस्तकमें भगवान् ऋषभदेव, भगवान् बुद्ध आदि भगवद् अवतारों, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य आदि मत प्रवर्तकों एवं विभिन्न अन्य आचार्योंके उपदेशोंके साथ उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मूल्य ₹ २५

मासिक 'कल्याण' kalyan-gitapress.org पर मुफ्त पढ़ें।